बुद्ध और बौद्ध धर्म

बुद्ध और बौद्ध धर्म

बुद्ध और बौद्ध धर्म

बुद्ध और बौद्ध धर्म

लेखक
आचार्य चतुरसेन

उत्तर प्रदेश भाषा संस्थान के
सौजन्य से नि:शुल्क

प्रकाशक
सोनाली साहित्य सदन

प्रकाशक :
सोनाली साहित्य सदन
30/36, (द्वितीय तल) गली न॰ 9, विश्वास नगर, शाहदरा,
दिल्ली-110032

© चन्द्रसेन
संस्करण : 1997

आवरण : हरिप्रकाश त्यागी
संशोधक : हरीशंचन्द्र वार्ष्णेय

मूल्य : **एक सौ पचास रुपये मात्र**

मुद्रक :
पवन ऑफसेट,
दिल्ली-110032

BUDH AUR BOUDH DHARAM A. CHATURSEN Rs. 150.00

'बुद्ध और बौद्ध धर्म' आचार्य चतुरसेन की एक उत्कृष्ट कृति है। इसमें उन्होंने महान् बुद्ध के जीवन, उपदेश तथा बुद्ध धर्म के प्रचार को दर्शाया है। बहुत समय से यह पुस्तक अनुपलब्ध थी। नया संस्करण पाठकों की सेवा में अर्पित है।

क्रम

भूमिका	9
1. महान् बुद्ध	13
2. बुद्ध के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धांत	26
3. बुद्ध की आचार संबंधी-आज्ञाएं	37
4. बौद्ध-संघ	45
5. बौद्ध संघ के भेद	51
6. बौद्धों के धर्म-साम्राज्य का विस्तार	65
7. बौद्ध-धर्म साहित्य	78
8. बौद्ध-काल का सामाजिक जीवन	90
9. बौद्ध-धर्म में स्त्रियों का स्थान	96
10. महान् बुद्ध सम्राट अशोक	101
11. बौद्ध काल की साम्पत्तिक अवस्था	126
12. एकराज कनिष्क अन्तिम बौद्ध-सम्राट्	139
13. दो अमर चीनी बौद्ध-भिक्षु	141
14. बुद्ध गया	161
15. नालन्दा विश्वविद्यालय	164
16. बौद्ध-धर्म का अस्त	183

भूमिका

पहला विश्वधर्म

गौतम बुद्ध ने संसार में सबसे पहला विश्वधर्म स्थापित किया, जो मनुष्य मात्र के लिए था। उसने लोगों को पवित्र जीवन का मध्यम मार्ग बताया।

सब प्रकार के ढोंग और अंधविश्वासों को हटा कर बुद्धि, विवेक, दया और प्रेम के आधार पर सरल-पवित्र जीवन निर्वाह करने का आदेश दिया। वह पण्डितों की भाषा को छोड़ कर सर्वसाधारण की भाषा में उपदेश देने लगा। शिक्षित, अशिक्षित, धनी और निर्धन सबके लिए उसकी वाणी तीर्थ बन गई।

पहले उसके पांच शिष्य बने। फिर वे साठ हो गए। इन शिष्यों का संघ बनाकर उन्हें घूम-फिरकर अपने आदर्शों का प्रचार करने का आदेश दिया।

उसने भिक्षुसंघ के अनुशासन के कड़े नियम बनाए। वह स्वयं भी प्रचार करता घूमता रहा। बड़े-बड़े विद्वान और राजा उसके शिष्य बने। उसकी ख्याति फैल गई। राजगृह का सम्राट् बिम्बसार और कौशल का प्रसेनजित उसके शिष्य बने। तीन बड़े काश्यप, सारिपुत्र और मोग्गलान जैसे महापंडितों ने उसके चरणों में सीस झुकाया। श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली और साकेत के श्रीमन्तों ने कोटि-कोटि स्वर्ण खर्च कर उसके लिए विहार बनवाए। अन्त में गंडक नदी के पार कुसीनारा के मल्लों के साथ धर्म-चर्चा, करते हुए शालवन में उसने ईस्वी पूर्व 477 में 80 वर्ष की आयु में देह त्यागा।

कुसीनारा के मल्लों ने उसका दाह-संस्कार किया, और उसकी अस्थिभस्म 8 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को बांट दी गई। प्रत्येक भाग पर एक स्तूप निर्माण हुआ। इसके बाद कुछ ही शताब्दियों में भारत से चीन, श्याम, तिब्बत, मंगोलिया, जापान, कोरिया, ब्रह्मदेश, सिंहल और मध्य एशिया भर में बुद्ध का धर्म-साम्राज्य स्थापित हो गया। सांची और सारनाथ के स्तूप बने, एजेन्टा और बाघ की गुफाओं को चित्रित किया गया। लुम्बिनी, गया, ऋषिपत्तन और कुसीनारा पवित्र तीर्थस्थल बने। उनकी मृत्यु के कुछ काल बाद ही एक संगति जुड़ी, जिसमें बुद्ध की वाणी, विचार और जीवन घटाएं प्रमाणानुसार लिखी गईं। यह वांगमय 'त्रिपिटिक' के नाम से विख्यात है।

यह महापुरुष ई० पू० 557 में लुम्बिनीवन में शाक्यों के राजवंश में जन्मा। प्रसव के 7 दिन के बाद इसकी माता का देहान्त हो गया। 18 वर्ष की आयु में उसका विवाह राजकुमारी यशोधरा से हुआ। और विवाह के 10 वर्ष बाद जब

उसके प्रथम पुत्र का जन्म हुआ, उसने मनुष्य-जीवन के सुख की खोज में महाभिनिष्क्रमण किया। वह 6 वर्ष कठोर तप करता रहा और फिर गया में बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर उसने अपने सिद्धान्त स्थिर किए। इसके बाद निरंतर 45 वर्ष गंगा की घाटियों में घूम-घूम कर उसने मनुष्यों को परोपकार और पवित्र जीवन का उपदेश दिया।

आगे चलकर इस धर्म की अनेक शाखाएं फूटीं, जिनके बड़े-बड़े आचार्यों में दिग्नाथ, नागार्जुन, शांतिरक्षित, तिष्य प्रसिद्ध हुए। अशोक और कनिष्क ने देश-देशान्तरों में इस धर्म का विस्तार किया।

निगण्ठ महावीर भी बुद्ध की भांति एक राजपुत्र था। वह बुद्धकालीन था। उनका जन्म ई० पू 599 और मृत्यु ई० पू० 527 में हुई। वह बज्जियों के जात्रिक कुल के थे। उनका जन्म-नाम वर्धमान था। बुद्ध की भांति उनका विवाह भी हुआ। एक पुत्री का जन्म भी हुआ। वे 30 वर्ष की आयु में स्त्री, पुत्री को त्याग घर से बाहर हुए और 12 वर्ष कठोर जीवन व्यतीत करते रहे। इसके बाद 30 वर्ष तक घूम-घूम कर धर्म-प्रचार करते रहे। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती पार्श्वनाथ के अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह और अस्तेय नाम के चार नियमों के साथ 'ब्रह्मचर्य' पर भी जोर दिया। अहिंसा उनका मुख्य धर्म-सिद्धान्त था। उन्होंने 72 वर्ष की आयु में पावनागरी में देह त्यागा। उनके भी बुद्ध की भांति अनेक बड़े-बड़े आदमी शिष्य बने। उनके सम्प्रदाय में जम्बूस्वामी, स्वयंभव, भद्रबाहु और स्थूलभद्र प्रसिद्ध आचार्य हुए। ई० पू० चौथी शताब्दी में पाटलिपुत्र में जैन सिद्धान्तों को शास्त्रीय रूप देने के लिए एक संगति जुड़ी। पर उन्हें अंतिम रूप 454 ईस्वी में बल्लभी में मिला। इसके धर्म-ग्रन्थ कुल 48 हैं। उनकी भाषा अर्ध मागधी है। गंग, कदंब, चालुक्य, राष्ट्रकूट आदि राजवंशों ने जैनधर्म अपनाया। उन्होंने बड़े-बड़े जैन देवालय स्थापित किए। जैन साहित्य ने प्राकृत को बहुत विकसित किया। हेमचन्द्र प्रसिद्ध विद्वान हुए। यह निरीश्वरवादी धर्म था। वह कर्मवाद ही को मुख्य समझता था।

यह वह युग था जब आर्यों ने विन्धाचल को पार करके दक्षिणपथ को आक्रान्त कर लिया था और मध्य भारत में घुसकर गोदावरी, कृष्णा के किनारे पर बड़े-बड़े राज्य स्थापित कर लिए थे। पूर्व में मगध का साम्राज्य उड़ीसा तक फैल गया था। इस काल में आर्यों से इतर आर्य बन्धुओं की एक शंकर जाति बन गई थी, जो तेजी से समर्थ होती जाती थी। यह जाति आर्यों से अधिक मेधावी और तेज थी। इसने अनेक राज्यों का विस्तार किया। शताब्दियों तक विजय पर विजय करके, नदियों को व्यवस्थित करके, जंगलों को साफ करके, ऊसरों को उपजाऊ बनाकर व्यापारी नौकाओं और सार्थवाहों से जीवन-वस्तुओं का लेन-देन करके भारत को समृद्ध बना लिया था। अब विजित और विजेता एक हो गए थे

जिससे एक नई सभ्यता का प्रारम्भ हो रहा था। दक्षिण के सब प्रान्त सौराष्ट्र, कोल, चेरा, पाण्य, मगध, वत्स, अंग, बंग, कलिंग सभ्य नगर बन गये थे।

इन दिनों लंका पर भी भारत का अधिकार था। इस काल में आर्यों को दो महत्कार्य करने पड़े। एक तो विवाह की नई मर्यादा स्थापित करनी पड़ी, दूसरे जाति-विभाजन करना पड़ा। चार वैदिक वर्ण तो पहले ही से थे। परन्तु अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न संकर वर्णों और अनेक आर्येतर जातियों की स्त्रियों के संसर्ग से उत्पन्न सन्तानों की अनेक शाखाएं फैल गई थीं। और अब आवश्यकता थी कि इन विवाहों और विवाहों से उत्पन्न सन्तानों की जातियों का नए सिरे से संगठन किया जाये। इस काल में इन विवाहों से उत्पन्न सन्तानों के उत्तराधिकारी को लेकर एक बहुत भारी संघर्ष देश में उत्पन्न हो गया था। और ये वर्णसंकर जातियां अपना संगठन मजबूत करती जाती थीं। अब असवर्ण विवाह रुक गए थे और आर्य अब रक्तशुद्धि का बहुत विचार करने लगे थे। विवाह और खानपान बिरादरियों में सीमित होने लगा था। स्त्रियों के अधिकार बहुत सीमित हो गये थे और उनका जीवन अधिकारशून्य होने लगा था। परन्तु ये संकर जातियां भारत तथा भारत से बाहर अपने बड़े-बड़े राज्य स्थापित कर रही थीं। शुद्ध आर्यों का पराभव होने लगा था। ब्राह्मणों के प्रति विद्वेष-भावना बढ़ गई थी। और बुद्ध के बाद तो उनकी धर्म-सत्ता छिन्न-भिन्न हो गई थी। वेद, यज्ञ और ब्राह्मण तीनों की जड़ें हिल गई थीं। संकर जातियों के वंशधर समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, अशोक, बिना ही अश्वमेध यज्ञ किए, आर्यों की परम्परा को ठुकराकर अखण्ड भारत ही में नहीं, उससे बाहर भी अपनी विजय-वैजयन्ती फहराने लगे।

बुद्ध और महावीर ने जिस श्रमण सम्प्रदाय की नींव डाली थी, वह ब्राह्मणों का विरोधी था। यह सम्प्रदाय न वेदों को मानता था, न ईश्वर को, न ब्राह्मणों की सत्ता को, न यज्ञ-संस्था को। इसमें नीच जाति के पुरुष भी पूजनीय हो गये थे और उन्होंने लोगों को बहुत-कुछ भीतरी और बाहरी बन्धनों से मुक्त कर दिया था। आर्यों के सब से प्रधान कर्म यज्ञों की इस समय सर्वथा ही समाप्ति हो गई।

1

महान् बुद्ध

भारतवर्ष में 2530 वर्ष पूर्व मगध साम्राज्य का बड़ा भारी प्रताप था। यह राज्य आजकल के दक्षिण बिहार में—गंगा के दक्षिण में शोमा नदी तक फैला हुआ था। इसकी राजधानी राजगृह नगरी थी। इसके उत्तर में प्रबल लिच्छवियों का गणतन्त्र राज्य था। लिच्छवियों की राजधानी वैशाली थी जो गंगा के उत्तर में थी।

आज जिसे पूर्वी बिहार करते हैं, वह देश उस समय अंग देश के नाम से विख्यात था। गंगा के उत्तर-पश्चिम के किनारों पर कौशलों का राज्य था, राजधानी अयोध्या उजड़ चुकी थी और नवीन राजधानी श्रावस्ती खूब हरी-भरी थी। दक्षिण की ओर काशियों का प्राचीन राज्य था जो इस समय श्रावस्ती के राजाओं के आधीन था। कौशल राज्य के पूर्व की ओर रोहणी नदी के दोनों किनारों पर आमने-सामने दो स्वतन्त्र जातियां शासन कर रही थीं। उनमें एक 'शाक्य' और दूसरी 'कोली' जाती थीं। इन जातियों का स्वातन्त्र्य उनके सामर्थ्य के आधार पर नहीं था; किन्तु मागधों और लिच्छवियो के साथ की हुई सन्धियों के आधार पर था। शाक्यों की राजधानी 'कपिलवस्तु' थी, और जिस समय का हम उल्लेख कर रहे हैं, उस समय शाक्यों की गद्दी पर महाराज शुद्धोधन थे। मगध की गद्दी पर विश्व-विख्यात् सम्राट् बिम्बसार थे और कौशलों की गद्दी पर महाराज प्रसेनजित थे। शाक्यों और कोली सरदारों का परस्पर खूब मेल-जोल और सम्बन्ध था। महाराज शुद्धोधन ने कोली महाराज की दो कन्याओं को ब्याहा था।

विवाह के बहुत समय बाद इन दोनों में से बड़ी बहन के गर्भ रहा। प्रसव से कुछ समय पहले उस समय की रीत्यानुसार वह राजकन्या पिता के घर प्रसव कराने को भेज दी गई, लेकिन मार्ग में ही लुम्बिनी नामक वन में उसके पुत्र पैदा हुआ। पुत्र सहित रानी पिता के घर पहुंची और सातवें दिन मर गई। फलतः छोटी बहन ने उस बच्चे को पाला। यही बच्चा भविष्य में महान् बुद्ध होकर प्रसिद्ध हुआ।

उसका नाम सिद्धार्थ रखा गया; लेकिन उसकी राशि का नाम गौतम था। शाक्यों का उत्तराधिकारी होने के कारण उसे शाक्य सिंह भी कहा जाता था। अन्त में उसने महान् ज्ञान प्राप्त किया और अपने को बुद्ध कहकर प्रसिद्ध किया। 18 वर्ष की अवस्था में उसने यशोधरा को स्वयंवर रीति से वरा, जो उसके माता ही के घराने की कन्या थी। इस परम सुन्दरी राजकुमारी के साथ 10 वर्ष तक वह सब प्रकार के लौकिक सुख भोगता रहा। अन्त में पुत्र उत्पन्न होने के दिन ही उसने गृहत्याग किया और संसार के दुःखों से दूर रहने के लिए सन्मार्ग की खोज में अग्रसर हुआ।

इसके पूर्व वह निरन्तर मनुष्य-जाति के पाप और दुःख पर गंभीरता और सहानुभूति के साथ विचार करता रहता था। उसने धन और अधिकार की निस्सारता को अच्छी तरह समझ लिया था। अधिकार और धन से अलग रहकर वह कोई ऐसी वस्तु प्राप्त करने की खोज में था, जो न तो धन और न अधिकार से मिल सकती थी। राजमहल के सुखों और विलास के जीवन में भी उसके हृदय में मनुष्य-मात्र के दुःख दूर करने की अभिलाषा थी। और वह अभिलाषा एक प्रबल और अनिवार्य कामना हो उठी। उसने एक निर्बल, वृद्ध मनुष्य को देखा और जाना कि प्रत्येक मनुष्य को ऐसा होना अनिवार्य है। फिर उसने एक रोगी मनुष्य को देखा और जाना कि प्रत्येक मनुष्य इसी प्रकार रोगी हो सकता है। उसने एक वीतराग संन्यासी को देखा और उसकी इच्छा हुई कि वह भी सब-कुछ त्याग-कर विरक्त बन जाये।

इसी समय उसके एक पुत्र हुआ। पुत्र उत्पन्न होने का समाचार जब उसे मिला, वह एक नदी के किनारे एक वाटिका में बैठा हुआ था। समाचार सुनते ही उसने कहा—यह एक नया और दृढ़ बन्धन और तैयार हुआ, जिसे अब तोड़ना ही पड़ेगा।

जिस समय यह हर्ष समाचार सम्पूर्ण राज्य में बड़ी प्रसन्नता के साथ सुना गया और राज्य-उत्तराधिकारी के जन्म के उपलक्ष में आनन्द और उल्लास की ध्वनि से कपिलवस्तु गूंज रहा था, गौतम नगर को लौटा। वहां चारों ओर से उस पर बधाइयों की बौछार हुई। युवती स्त्रियां कह रही थीं कि ऐसे सुकुमार पुत्र से इसके माता-पिता धन्य हुए। एक युवती ने उससे कहा—यह तुम्हारा सबसे बड़ा सुख है। गौतम ने समझा कि यह पाप और पुनर्जन्म से मुक्ति पाने का संकेत है। और उसने अपना मोतियों का हार उतार कर उस युवती को दे दिया।

उसी रात्रि को गौतम ने अपनी पत्नी के शयनागार में जाकर देखा—सुगंधित दीपकों से कमरा जगमगा रहा है। उसकी पत्नी चारों ओर फूलों से घिरी हुई सुख-निद्रा में सो रही है है, उसका एक हाथ बच्चे के सुकोमल चेहरे पर है।

यह बड़े सुख और आनन्द का दृश्य था। उसके मन में यह इच्छा हुई कि इन तमाम इहलौकिक सुखों को छोड़ने से पहले, वह एक बार अपने बच्चे को गोद में उठाकर प्यार करे; पर वह एकदम रुक गया, कदाचित् बच्चे की मां जग उठे और मां की प्रार्थनाएं उसके हृदय को हिला दें और उसके संकल्प में बाधा पड़े। ऐसा विचार कर वह चुपचाप घर से बाहर निकल गया। एक ही क्षण में इस अन्धकार के अन्दर उसने अपने अधिकार, सुख, अपनी उच्च मर्यादा, राजकुमार के पद को, अपने सुखद स्नेह की भावना को, युवती पत्नी और उसकी गोद में सोये हुए सुकोमल बच्चे के प्रति प्रगाढ़ प्रेम को त्याग दिया। वह महान् त्यागी वनकर एक निर्धन विद्यार्थी और गृहहीन पथिक की भांति निकल पड़ा। उसका स्वामी-भक्त नौकर चंदन उसके साथ था। उसने हमेशा साथ रहने का बहुत आग्रह किया; परन्तु गौतम ने उसे वापस कर दिया ओर वह अकेला ही राजगृह की ओर चल दिया।

राजगृह मगध सम्राट् बिम्बसार की राजधानी थी। वह बड़ी-बड़ी घाटियों के बीच पांच पहाड़ियों से घिरी हुई थी। अनेकों साधु और संन्यासी इन पहाड़ियों की गुफाओं में रहते, और वे ध्यान और अध्ययन करने के कारण बहुत प्रसिद्ध हो गये थे। वह घाटियां नगर से कुछ दूर थीं। गौतम अलार नामक संन्यासी के पास कुछ दिन रहा और फिर उद्रक संन्यासी के पास रहकर उसने हिन्दू दर्शन-शास्त्र सीखा; लेकिन इससे उसको सन्तोष न हुआ।

गौतम यह जानना चाहते थे कि क्या तपस्या करने से दैवी-शक्ति और ज्ञान प्राप्त हो सकते हैं? वह उर्बेला के जंगल में जो आधुनिक बौद्ध-गया के निकट था, गया और 5 साथियों के साथ 6 वर्ष तक कठोर तपस्या की और बड़े कष्ट सहे। इससे सर्वत्र उसकी ख्याति हुई; क्योंकि अज्ञानी लोग उसे बड़ी पूज्य दृष्टि से देखते और बहुत जल्द प्रभावित होते थे; परन्तु गौतम, जिस वस्तु की खोज में था, वह उसे न मिली।

एक दिन अत्यन्त दुर्बलता के कारण वह गिर पड़ा। उसके शिष्यों ने समझा कि वह मर गया, लेकिन जब वह होश में आया, तो उसने निश्चय किया कि ये तपस्याएं व्यर्थ हैं और उन्हें छोड़ दिया। इसके शिष्यों ने इस पर घृणा प्रकट की और इसे छोड़कर वे बनारस चले गये।

अब गौतम अकेला निरंजना नदी के तट पर भ्रमण करने लगा। उन दिनों एक कृषक कन्या सुजाता नित्य प्रातःकाल उसे भोजन दे जाती थी। और वह प्रसिद्ध बोधि-वृक्ष के नीचे बैठकर विचार किया करता था। वह वहुत समय तक विचार करता रहा। उसके अतीत जीवन के दृश्य उसके सामने आते रहे। इन्द्रियों की वासना आदि ने उसे ललचाया। जो विद्या उसने अब तक प्राप्त की थी, वह उसे व्यर्थ-सी मालूम हुई और जो तपस्याएं उसने की थीं, वह भी निष्फल ज्ञात

हुईं । वरावर उसकी यह इच्छा होती रही कि वह अपनी प्रिय पत्नी के पास, अपने छोटे बच्चे के पास जो अब 6 वर्ष का हो गया होगा, अपने माता-पिता के पास और अपनी राजधानी को लौट जाये, लेकिन उसे संतोष न होता था । वह सोचता था कि जिस काम में अपने-आपको लगाया है उसका क्या होगा ? वह चिरकाल तक इन विषयों पर सोचता रहा अन्त में उसके सब संदेह दूर हुए और सत्य का प्रकाश उसकी आंखों के सामने चमकने लगा ।

यह वह सत्य था—जिसे न तो विद्या और न तपस्या ही सिखा सकती है । उसने कोई नया तत्त्व नहीं जाना और न कोई नया ज्ञान प्राप्त किया; किन्तु उसके धार्मिक स्वभाव और दयालु हृदय ने यह बता दिया कि पवित्र जीवन, प्रेम और दया का भाव सबसे उत्तम तपश्चर्या है । प्राणी-मात्र से प्रेम करना आत्मोन्नति का सबसे उत्तम मार्ग है—यह नई बात उसने मालूम की । और उसने अपने-आप को 'बुद्ध, के नाम से प्रकट किया ।

वह अपने पांचों शिष्यों को यह नवीन सत्य वताने के लिए काशी गया । मार्ग में उसे उपक नामक मनुष्य मिला जो जीवन-भर योगियों के साथ रहा था । उसने गौतम को गम्भीर और शांत देखकर पूछा—"कहो, तुमने किस विचार से संसार त्यागा है, तुम्हारा विचार क्या है, तुम्हारे गुरु कौन हैं ?"

गौतम ने कहा—"मेरा कोई गुरु नहीं । मैंने सब कामनाओं का दमन किया, मैंने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की, मुझे महान् ज्ञान हुआ, मैंने निर्वाण प्राप्त किया, मैं संसार में अमरत्व का उपदेश देने काशी जा रहा हूं ।" उपक ने उस पर विश्वास न किया और दूसरा रास्ता पकड़ा ।

शाम के समय गौतम ने बनारस में प्रवेश किया । वहां उसे उसके पुराने शिष्य मिले और उन्हें उसने अपना नया सिद्धान्त बतलाया । उसने कहा—"हे शिष्यों ! जिन्होंने संसार को त्याग दिया है, उन्हें ये दो बातें कभी नहीं करनी चाहिये—(1) जिन बातों से मनोविकार उत्पन्न होते हों, वे बातें । (2) तपस्याएं जो केवल दु:ख देने वाली हैं और जिनसे कोई लाभ नहीं ।

इन दोनों बातों को छोड़कर बीच का मार्ग ग्रहण करो जिसको 'बुद्ध, ने प्रकट किया है । इससे मन को शान्ति और पूर्ण आनन्द अर्थात् निर्वाण प्राप्त होता है । और तब उसने दु:ख, दु:ख के कारण और दु:खों को नाश करने के सम्बन्ध की बातें बताईं, और उसने अपनी प्रसिद्ध राय शिक्षाएं दीं जिसके द्वारा दुख से छुटकारा मिलता है—इसे मध्यम मार्ग कहा जाता है ।

आर्य अष्टांगिक मार्ग—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक, सम्यक्-कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् ध्यान, सम्यक् समाधि, यह आठ सत्य हैं, जिनका पालन करना चाहिए ।

उसने कहा—हे भिक्षुओ, ये प्राचीन सिद्धान्त नहीं हैं ।

उसने काशी के उग्ग नामक मठ में बैठकर सत्य के राज्य के इस धर्मचक्र को चला दिया; जो किसी ब्राह्मण के द्वारा, किसी भी देवता के द्वारा, या और किसी के द्वारा, कभी नहीं उलटाया जा सकता था। पांचों शिष्यों ने इसके धर्म को स्वीकार किया, और वे ही इसके सबसे पहले शिष्य हुए।

इसके पश्चात् काशी के प्रसिद्ध सेठ का पुत्र यश इसका गृहस्थ-शिष्य हुआ। इसके तीन महल-जाड़ा, गर्मी, वर्षा के लिए अलग-2 थे।

एक दिन, रात्रि को वह जग पड़ा और कमरे में उसने गायिकाओं को सोते हुए देखा। वे सब वेसुध पड़ी थीं। उनके कपड़े और गाने-बजाने का साज-सामान आदि भी अस्तव्यस्त पड़ा था। इस युवक ने, जो सुख के जीवन से तृप्त हो चुका था, जो कुछ देखा, उससे इसे घृणा हुई और उसने गम्भीरता से सोचते हुए कहा 'शोक! कैसा दुःख और कैसी विपत्ति है।' और वह घर से बाहर चल दिया।

प्रभात का समय था। गौतम ने उसे देखा – वह इधर-उधर घूमकर वायु-सेवन कर रहा था। उसने उसे यह कहते हुए सुना—शोक! कैसा दुःख और कैसी विपत्ति है!!

उसने इससे कहा—'हे यश! यहां आकर बैठो, मैं तुम्हें सत्य का मार्ग सिखाऊंगा।'

यश ने बुद्ध के मुख से उस सत्य को सुना। जब उसके माता-पिता और उसकी पत्नी ने यह सुना, तो वे भी बुद्ध के शिष्य हो गए।

काशी में, पांच महीने के अन्दर, गौतम ने 60 शिष्य बनाए और उन्हें मनुष्य-मात्र को मुक्ति-मार्ग बताने के लिए भिन्न-भिन्न दिशाओं में भेज दिया और कहा—'हे भिक्षुओ! अब तुम जाओ, बहुतों के लाभ के लिए, बहुतों की भलाई के लिए भ्रमण करो, और तुम इस सिद्धान्त का प्रचार करो, जो प्रारम्भ में उत्तम है, मध्य में उत्तम है और अन्त में भी उत्तम है।' गौतम के उन अनुयाइयों ने गुरु की पवित्र आज्ञा का पालन किया तथा गौतम स्वयं गया की ओर प्रस्थान कर गये।

गया में, गौतम ने चार युवकों को अपना शिष्य बनाया जिनमें से एक काश्यप था, जो वैदिक-धर्म का बड़ा भारी अनुयायी था और साथ ही बड़ा भारी दार्शनिक भी प्रसिद्ध था। उनको शिष्य बनाने के कारण गौतम की बड़ी भारी प्रख्याति हुई। काश्यप तथा उसके शिष्यगण ने अपने बाल खोल दिये और अग्नि-होत्र तथा पूजा की सामग्री नदी में फेंक दी और बुद्ध से उपसम्पदा-विधान ग्रहण किया।

काश्यपों के धर्म परिवर्तन से गया में बड़ी भारी हलचल उत्पन्न हो गई और शीघ्र ही गौतम के एक हजार शिष्य बन गये। फिर वह उन सबको लेकर राज-गृह की तरफ पहुंचा।

सम्राट् बिम्बसार को जब यह पता चला तो वह अनेकों ब्राह्मणों और

दरबारियों को साथ लेकर बुद्ध के पास गया। वहां जब उसने बुद्ध के पास महान् काश्यप को बैठे हुए देखा तो उसे यह सन्देह हुआ कि गौतम काश्यप का शिष्य है या काश्यप गौतम का।

गौतम ने राजा के सन्देह को समझा और उसने काश्यप से पूछा—'हे काश्यप! तुम कहो कि तुमने कौन-सा ज्ञान प्राप्त किया है, जिसके कारण तुमने अपना अग्नि-होत्र करना छोड़ दिया?'

काश्यप ने उत्तर दिया—'हमने शान्ति की अवस्था देखी है और हम अग्नि-होत्र से प्रसन्न नहीं हैं।' राजा यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और लाखों सेवकों के साथ गौतम का शिष्य हो गया। और दूसरे दिन के लिए अपने यहां भोजन करने का निमन्त्रण दे गया।

दूसरे दिन गौतम अपने सब शिष्यों को साथ लेकर राजभवन में आए। मगध के निवासियों ने जब इस महान् उपदेशक को इस अवस्था में देखा तो वे बड़े प्रभावित हुए।

राजा ने उसके रहने के लिए बेलीबन में एक कुंज बनवा दिया और वहां गौतम अपने साथियों के साथ कुछ समय तक रहा। इधर उसने दो प्रसिद्ध पुरुषों को जो कि सारिपुत्र और मोग्गल्लायन के नाम से विख्यात थे, अपना शिष्य बनाया।

बुद्ध और उसके शिष्य उषाकाल में बैठते और नित्य कर्म से निवृत्त होकर आध्यात्मिक वार्तालाप में लग जाते। इसके पश्चात् वह अपने शिष्यों के साथ नगर की ओर जाते।

यह प्रसिद्ध पुरुष जो सम्पूर्ण भारतवर्ष में आदर से देखा जाने वाला था और जिसके सम्मुख राजा लोग भी सिर झुकाते थे, जब हाथ में भिक्षा-पात्र लेकर गलियों और रास्तों में द्वार-द्वार बिना कुछ प्रार्थना किये नीची दृष्टि किये हुए चुपचाप खड़ा हो जाता तब लोग भोजन का एक ग्रास भिक्षा-पात्र में डालते और 11 ग्रास भोजन लेकर वह उसी प्रकार नीची दृष्टि किये हुए अपने स्थान को लौट जाता। हजारों मनुष्य इस महान् त्यागी पुरुष को इस अवस्था में देखकर उसे सिर झुकाते थे। वह स्त्री-पुरुषों को समान भाव से उपदेश देता था। इस काल में स्त्रियां-पुरुषों के बुद्धि-विषयक-जीवन में सम्मिलित थीं। और वे महत्व-पूर्ण विषयों पर विचार करने की अधिकारिणी मानी जाती थीं।

जब गौतम की ख्याति उसकी जन्म-भूमि तक पहुंची तो उसके वृद्ध पिता ने उसे एक बार देखने की इच्छा प्रकट की। पिता का निमन्त्रण पाकर बुद्ध कपिलवस्तु गये और अपने नियमानुसार नगर के बाहर एक कुंज में ठहर गये। उनके पिता और सम्बन्धी उनसे मिलने को स्ययं वहां गए और दूसरे दिन गौतम स्वयं नगर के अन्दर आए। लोगों ने देखा कि वह महान् पुरुष उन्हीं लोगों के सामने भिक्षा-पात्र लेकर एक-एक ग्रास भिक्षा मांग रहा है जिसे वे अपना स्वामी

और राजकुमार मानते थे। ऐसा देखकर नगर में हाहाकार मच गया। वृद्ध शुद्धोधन ने अपने पुत्र को इस प्रकार भिक्षा मांगने से रोका और कहा—हम लोग प्रतापी योद्धाओं के वंशज हैं। हमारे यहां कभी किसी ने भिक्षा नहीं मांगी। तब बुद्ध ने कहा—आपकी उत्पत्ति अवश्य ही राजवंशज में हुई है, लेकिन मेरी उत्पत्ति प्राचीन बुद्धों के वंश में है—और यह मेरी वंश-परम्परा है।

जब गौतम राजभवन में आये, तो उनके कुटुम्बी स्त्री और पुरुष उनको देखने वहां पहुंचे। बुद्ध ने देखा कि उनकी परित्यक्ता पत्नी यशोधरा उनको देखने नहीं आई। बुद्ध ने जब पूछा कि यशोधरा क्यों नहीं आई, तो उसने दुःख-पूर्ण गर्व से कहला भेजा कि यदि उनकी दृष्टि में मैं कुछ हूं तो उन्हें स्वयं मेरे पास आना चाहिए। गौतम अपने दो प्रधान शिष्यों को साथ लेकर उसके महल में गये। जब यशोधरा ने अपने उस सुन्दर राजकुमार स्वामी को, सिर मुंडाये और पीत-वस्त्र धारण किये हुए संन्यासी के वेश में अपने महल में आते देखा तो वह अपने-आपको न संभाल सकी, और पछाड़ खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। फिर उसने होश में आकर तुरन्त समझ लिया कि वह उसके वे पति और राजकुमार नहीं हैं, और अब दोनों के बीच में बड़ा अन्तर हो गया है। वह धैर्यपूर्वक उठ खड़ी हुई और उसने बुद्ध के नये सिद्धान्तों को सुना।

यशोधरा ने बुद्ध से अनुरोध किया कि वह भिक्षुणियों का भी एक सम्प्रदाय स्थापित करें। बुद्ध ने वैसा ही किया और यशोधरा सबसे पहली भिक्षुणी हुई। इसके बाद गौतम का पुत्र राहुल भी बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया। इससे गौतम के वृद्ध पिता को बड़ा भारी दुःख हुआ और उसने गौतम से दुख प्रकट किया। तब से बुद्ध ने यह नियम बनाया कि भविष्य में कोई भी बालक बिना उसके माता-पिता की सम्मति के भिक्षु नहीं बनाया जायेगा।

जब बुद्ध राजगृह को लौट रहा था तब वह मल्लों के नगर अनुपिय में ठहरा और कोली तथा शाक्य-वंश के बहुत से पुरुषों को अपना शिष्य बनाया। शाक्य-वंश के कुमार अनिरुद्ध अपनी मां के पास गया और उससे भिक्षु होने की आज्ञा मांगी। उसकी मां ने कहा—यदि शाक्यों के राजा भद्रिक संसार त्यागकर भिक्षु हो जायें तब तू भी भिक्षु हो जाना। तब अनिरुद्ध भद्रिक के पास गया और उन दोनों ने उसी सप्ताह में बौद्ध-धर्म को ग्रहण करके भिक्षु होने का निश्चय कर लिया।

इस प्रकार शाक्य राजा, भद्रिक, अनिरुद्ध, आनन्द और देवदत्त सब मिलकर अपने-अपने महलों से निकले, मानों वे आनन्द विहार के लिए जा रहे हों। उनके साथ प्रसिद्ध हज्जाम उपाली भी था। नगर से बाहर जाकर उन्होंने अपने रत्न-जड़ित वस्त्र-भूषणों को उतारकर उपाली हज्जाम को दिये और कहा—हे उपाली! अब तुम घर को लौट जाओ, ये वस्तुएं तुम्हारे निर्वाह के लिए बहुत

हैं। लेकिन उपाली दूसरे ही प्रकार का आदमी था, उसने लौटने से इन्कार किया। ये सब लोग बुद्ध के पास गये और भिक्षु बन गए।

भद्रिक ने जब भिक्षु-धर्म ग्रहण किया तो वह बड़ी प्रसन्नता से कहने लगा—वाह सुख ! वाह सुख ! गौतम ने उससे इसका कारण पूछा तो उसने बतलाया—हे मालिक ! पहले जब मैं राजा था तो मेरे भवन के भीतर और बाहर, देश की सीमा में और सीमा के बाहर—बहुत-से मेरे शरीर-रक्षक थे। और इस प्रकार रक्षा की जाने पर भी मैं भय, चिन्ता और सन्देह का पात्र बना हुआ था; किन्तु अब, जबकि मैंने सब-कुछ त्याग दिया और इस एकान्त वन में इस वृक्ष के नीचे बैठा हुआ हूं—तो मुझे कोई भय, चिन्ता और सन्देह नहीं। मैं बहुत ही सुखी और सुरक्षित हूं—मेरा हृदय एक हिरण के समान शान्त है।

इन पांच व्यक्तियों में से आगे जाकर अनेक बहुत ही प्रसिद्ध हुए।

आनन्द, गौतम का बहुत निकटस्थ प्रिय शिष्य हुआ और इस व्यक्ति ने गौतम की मृत्यु के पश्चात राजगृह में 500 भिक्षुओं की एक बड़ी भारी सभा बनाई, जिसमें बुद्ध के सब सिद्धान्तों और समस्त वचनों को फिर से दोहराया और एकत्रित किया गया।

उपाली यद्यपि हज्जाम था, लेकिन वह भी एक बड़ा प्रसिद्ध हुआ है। आज तक विनय-पिटक के सम्बन्ध में उसके वाक्य प्रमाणित माने जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि बुद्ध ने जो भिक्षु-संघ स्थापित किया था उसमें जाति-भेद बिल्कुल नहीं रखा गया था।

अनिरुद्ध, आम-धर्म्म-पिटक का सबसे बड़ा शिक्षक हुआ।

देवदत्त कुछ समय बाद गौतम का विरोधी और शत्रु बन गया। उसने मगध के राजकुमार अजातशत्रु को, अपने ही पिता बिम्बसार को मार डालने के लिए उत्तेजित किया और गौतम के भी वध करने की चेष्टा की।

दूसरी वर्षा-ऋतु भी गौतम ने राजगृह ही में व्यतीत की। इसके बाद वह कौशलों की राजधानी श्रावस्ती में गया; जहां के राजा प्रसेनजित ने अपना कुंज उसके ठहरने को दिया। बुद्ध वहां ठहरकर वहां के निवासियों को उपदेश देते रहे। तीसरी वर्षा भी उसने राजगृह में व्यतीत की। इसके बाद वह चौथे वर्ष गंगा पार करके वैशाली गया और वहां एक कुंज में ठहरा। रोहिणी नदी के पानी के सम्बन्ध में कोलियों और शाक्यों में एक झगड़ा चल रहा था। बुद्ध ने उसका फैसला किया। इसके बाद वह फिर कपिलवस्तु गया और अपने पिता की मृत्यु के समय वह उनकी सेवा में उपस्थित रहा। उसके पिता की, मृत्यु के समय 67 वर्ष की अवस्था थी। पिता की मृत्यु के पश्चात उसकी विमाता और यशोधरा स्वतन्त्र हो गईं और उन्होंने स्वतन्त्र रूप से बुद्ध-धर्म को ग्रहण किया। यद्यपि बुद्ध नहीं चाहता था कि स्त्रियों को भिक्षुणी बनाया जाये, किन्तु उसकी माता ने

बड़ा आग्रह किया और वह वैशाली तक उसके साथ गईं। आनन्द ने उसकी माता का पक्ष लिया और उसने कहा—हे प्रभो ! जब स्त्रियां गृहस्थ को छोड़ दें और बौद्धों के सिद्धान्तों को स्वीकार करें, तब क्या कारण है कि वह उस कल्याण को प्राप्त न कर सकें जिसको कि पुरुष प्राप्त करते हैं। आखिर बुद्ध ने स्त्रियों को भी भिक्षुणी बनने की आज्ञा दे दी; लेकिन ऐसे नियम बना दिये कि वे हमेशा भिक्षुओं के आधीन रहें। इसके बाद बर्षा-ऋतु व्यतीत करने के लिए अपनें धर्म प्रारम्भ के छठे वर्ष वह राजगृह को लौटा और बिम्बसार की रानी क्षेमा को बुद्ध-धर्म में दीक्षित किया। 11वें वर्ष गौतम ने प्रसिद्ध विद्वान भारद्वाज को बौद्ध वनाया।

काशी में भारद्वाज के 500 हल थे और वह एक बड़ा धन-सम्पन्न कृषक था। एक दिन जहां उसके नौकर गरीबों को भोजन बांट रहे थे वहाँ उसनें जाकर देखा कि स्वयं गौतम भिक्षा के लिए खड़े हुए हैं। उसने गौतम को देखकर कहा—"हे सामन ? मैं जोतता और बोता हूं और जोत-बोकर खाता हूं। तुझे भी जोतना और बोना चाहिए और जोत-बोकर खाना चाहिए।"

भगवत् ने कहा—"हे ब्राह्मण ? मैं भी तो जोतता और बोता हूं और जोत-बोकर खाता हूं।"

भारद्वाज ने कहा—फिर हम लोगों को पूज्य गौतम के हल-जुआ वगैरा नहीं दिखाई देते।

भगवत् ने उत्तर दिया—धर्म मेरा बीज, तपस्या वर्षा, ज्ञान जूआ और हल, विनय बन्धन और उद्योग मेरी बीज लादने की गाड़ी है—और वह मुझे निर्वाण को ले जाती है। वह सीधी मुझे उस स्थान को ले जाती है, जहां जाने से दुःख नहीं रहता।

ब्राह्मण भारद्वाज इस बात को सुनकर लज्जित हुआ। और तत्क्षण बुद्ध का शिष्य हो गया।

12वें वर्ष, उसने अपने जीवन में, सबसे बड़ी यात्रा की। वह मनल्ला को गया और बनारस होकर लौटा। तब उसने अपने 28 वर्ष के पुत्र राहुल को, प्रसिद्ध महासुत्त राहुल का उपदेश दिया। इसके दो वर्ष उपरान्त राहुल ने भिक्षु-धर्म को ग्रहण किया।

अपना धर्म प्रकट करने के 15वें वर्ष वह फिर कपिलवस्तु गया और वहां उसने अपने चचेरे भाई महानाम से धर्म-चर्चा की, जो उसके पिता शुद्धोधन के उत्तराधिकारी भद्रक के स्थान पर शाक्यों का राजा हुआ था।

17वें वर्ष उसने श्रीमती नायक वेश्या की मृत्यु पर व्याख्यान दिया; 18वें वर्ष उसने एक जुलाहे को सांत्वना दी, जिसकी पुत्री किसी दुर्घटना-वश मर गई थी; 19वें वर्ष में उसने एक हिरण को छुड़ाया और जो शिकारी इस हिरण को

मारना चाहता था उसे बौद्ध बनाया; 20वें वर्ष में उसने चलियवन के प्रसिद्ध डाकू अंगुलीमाल को अपना शिष्य बनाया। इसके पश्चात बुद्ध 25 वर्ष तक गंगा की घाटियों में ही घूमता रहा और दुःखी तथा गरीब मनुष्यों के गांवों में जा-जाकर उन्हें उपदेश देता रहा। अगण्य मनुष्य छोटे और बड़े, निर्धन और धनवान उसके शिष्य बने। उसने सब पर अपने नियमों को प्रकट किया। उसके पवित्र जीवन, सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार और पवित्र धर्म की बड़ी भारी विख्याति हुई और उसके शिष्य भी बड़े आदर से माने जाने लगे। प्रजा और राजा दोनों ही उसके प्रति आदर के भाव रखते थे।

वह 80 वर्ष की अवस्था में मरा और इसके पूर्व ही उसके धर्म ने संसार में बड़ी प्रबलता और दृढ़ता स्थापित कर ली थी, जोकि किसी ब्राह्मण, सामन या देवता के द्वारा इस संसार से नहीं उठाई जा सकती थी।

उसकी मृत्यु के पहले की घटनाओं का सम्पूर्ण वृत्तांत बौद्ध सूत्रों में मिलता है। गौतम की अन्तिम अवस्था के समय जबकि उसकी युवावस्था के सब साथी और शिष्य मर चुके थे, यह गूढ़ महात्मा, उनके पुत्र और पौत्रों को उन्हीं पवित्र नियमों का उपदेश देता रहा, जिनका उपदेश वह उनके पिताओं और दादों को दिया करता था।

यद्यपि उसके बहुत से पुराने साथी और शिष्य मर चुके थे, फिर भी उसका सबसे निकटस्थ शिष्य आनन्द छाया सदृश उसका अनुकरण करता हुआ साथ ही था। राजगृह के वृद्ध सम्राट् बिम्बसार अब न थे। उनका लोभी और दुष्ट पुत्र अजातशत्रु मगध की गद्दी पर था। यद्यपि अजातशत्रु गौतम का भक्त और शिष्य न था; किन्तु वह इतने बड़े महात्मा का कुछ नुकसान भी न कर सकता था; अतः वह बुद्ध का ऊपर से तो सत्कार करता था। अजातशत्रु जब मगध का सम्राट् बना, तो मगध में गंगा के उत्तरी किनारे पर मैदान में, जो प्रबल विज्जयन जाति रहती थी उसकी ओर उसका ध्यान गया और उसने उन्हें नष्ट करने का निश्चय किया। इस समय गौतम गृध्रकूट पर रहता था जोकि उन 5 पहाड़ियों में सबसे बड़ी थी। अजातशत्रु ने अपने मन्त्री सुनीत को गौतम के पास यह पूछने को भेजा कि यदि विज्जयनों पर आक्रमण किया जाये तो उसका क्या परिणाम होगा। गौतम राजाओं का सत्कार करने वाला और खुशामदी आदमी न था। उसने कहा—जब तक विज्जयन लोग परस्पर सुसंगठित रहेंगे तब तक उनका पतन नहीं होगा।

उस समय जबकि गौतम गृध्रकूट के निकट रहता था, वह पाटलीपुत्र और अम्बलतिका आदि ग्रामों में भ्रमण किया करता था। पाटलीपुत्र उस समय एक छोटासा ग्राम था; लेकिन मगध का प्रधानमन्त्री सुनीत विज्जयनों का मुकाबला करने के लिए वहां एक किला बना रहा था। उस किले के निर्माण के बाद ही इस

नगर की बड़ी उन्नति हुई और इसके बाद प्रसिद्ध मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने इसे अपनी राजधानी बनाया। अब भी वह भारतवर्ष के सबसे बड़े नगरों में गिना जाता है। गौतम ने यह भविष्यवाणी की थी कि यह नगर आगे चलकर बहुत प्रसिद्ध होगा। उसने आनन्द से कहा था—हे आनन्द! यह नगर सब प्रकार के धंधों, शिल्प और वाणिज्य-व्यापार का केन्द्र होगा।

एक बार अजातशत्रु ने गौतम को भोजन का निमन्त्रण देकर उसे मीठी रोटियां खिलाई थीं। वहां से वह कोटिग्राम और कोटिग्राम से नादिक को गया और वहां एक ईंटों की सराय में ठहरा जोकि यात्रियों के ठहरने के लिए बनाई गई थी। वहां पर उसने आनन्द को वह सारगर्भित उपदेश दिया कि जिसके द्वारा प्रत्येक शिष्य जान सकता है कि उसने निर्वाण प्राप्त किया है या नहीं। उस ज्ञान का अभिप्राय यह था—यदि वह मन में यह निश्चय कर ले कि उसे बुद्ध में विश्वास है, संघ में विश्वास है और धर्म में विश्वास है, तो उसकी मुक्ति हो गई। बुद्ध, धर्म और संघ ये बुद्ध-धर्म के तीन मुख्य सिद्धांत हैं—बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्म्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।

नादिक से गौतम वैशाली गया, जो गंगा के उत्तरी किनारे, प्रबल लिच्छवियों की प्रसिद्ध राजधानी थी। वहां वह अम्बपालिका की आम की बाड़ी में ठहरा। अम्बपालिका इस नगर की एक प्रख्यात वेश्या थी। गौतम का आना सुनकर वह उसके पास गई। उसने उसे दूसरे दिन अपने यहां भोजन करने का निमन्त्रण दिया। गौतम ने इसे स्वीकार कर लिया। जब लिच्छवियों के राजकुमारों ने सुना कि बुद्ध आए हैं और वह अम्बपालिका की बाड़ी में ठहरे हैं, तब उन्होंने बहुत-सी सुन्दर गाड़ियां तैयार करवाई और उनपर चढ़कर वे बुद्ध के पास गए। उनमें से कुछ काले और लाल रंग के थे और वैसे ही वस्त्र और उसी तरह के आभूषण पहने हुए थे; उनमें से कुछ गौर वर्ण के पुरुष सफेद और लाल रंग के वस्त्र तथा वैसे ही आभूषण पहने हुए थे; उनमें में कुछ लाल रंग के पुरुष सफेद वस्त्र और वैसे ही आभूषण पहने हुए थे; कुछ सुन्दर वर्ण के पुरुष सफेद और उज्वल वर्ण के वस्त्र तथा आभूषणपहने हुए थे।

अम्बपाली ने युवा लिच्छवियों के पहिए से पहिया लगाकर, धुरे से धुरा मिलाकर, और जुए से जुआ अड़ाकर अपना रथा हांका। तब लिच्छवी राजकुमारों ने पूछा—हे अम्बपाली! इसका क्या कारण है कि तू हमारे रथ के बराबर रथ हांक रही है?

अम्बाली ने उत्तर दिया-हे मेरे प्रभो! मेरे महान बुद्ध और उनके शिष्यों को कल भोजन का निमन्त्रण दिया है और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया है।

तब उन्होंने कहा—'हे अम्बपाली! हम लोगों से तू एक लाख रुपये ले ले और यह भोजन हमें करा लेने दे।'

तब उसने उत्तर दिया—यदि आप यह तमाम वैशाली और उसके आधीन के राज्य भी मुझे दे दें, तो भी मैं यह प्रतिष्ठा का भोजन आपको न दूंगी। तब लिच्छवियों ने यह कहकर हाथ पटके कि इस अम्बपाली ने हम लोगों को हरा दिया और अब यह हम से बढ़ गई। वह अम्बपाली की बाड़ी में गये और वहां बुद्ध को देखा। उन्होंने बुद्ध को भोजन का निमन्त्रण दिया, लेकिन बुद्ध ने उत्तर दिया —'हे लिच्छवियों ! मैंने अम्बपाली का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया है।

जब दूसरे दिन गौतम और उसके शिष्य अम्बपाली के यहां भोजन करने गये, तो उसने उन्हें मीठे चावल और मीठी रोटियां खिलाईं। जब बुद्ध भोजन करके तृप्त हुए, तब उन्होंने अम्बपालीको उपदेश दिया। बुद्ध का उपदेश सुनकर अम्बपाली ने अपना वह विशाल महल और अतुल सम्पत्ति बौद्ध-संघ के लिए दे दी और खुद बौद्ध भिक्षुकी हो गई।

अम्बपाली की बाड़ी से गौतम पावा गये। वहां उसने अपनी मृत्यु को निकट आते देखा, तब उसने आनन्द से कहा—"मैं बहुत वृद्ध और कमजोर हो गया हूं। अब मेरी मृत्यु के दिन नजदीक आ गये हैं। इसलिए, हे आनन्द ! तुम खुद अपने लिए प्रकाश हो और अपने लिए रक्षक हो। मेरे बाद तुम किसी दूसरे बाहरी रक्षक की शरण न लेना, रक्षक की भांति सत्य में दृढ़ रहना।"

गौतम ने एक बार फिर अपने शिष्यों को अपने धर्म का तत्त्व बताया और उसने उन्हें इस पर दृढ़ रहने की आज्ञा दी।

अन्तिम बार फिर वह वैशाली गया और वहां से बलिग्राम, हस्तिग्राम, अम्बा ग्राम, जम्बुग्राम और भृगुग्राम गया और वहां से फिर वह पावा गया। वहां चुन्द ने जो लोहार था, उसे भोजन के लिए मिमन्त्रण दिया और उसे मीठे चावल, मीठी रोटियां तथा कुछ सूखा सूअर का मांस खिलाया। गौतम दरिद्रों की वस्तुओं को कभी अस्वीकार नहीं करता था, परन्तु सूअर का मांस उसकी इच्छा के विरुद्ध था, लेकिन बुद्ध ने उस भोजन को भी खा लिया और तभी से उसे अतीसार का रोग हो गया। मृत्यु के समय उसे बहुत पीड़ा हुई; पर चूंकि गौतम आत्मसंयमी और सचेत था, इसे सहन किया। जब वह पावा से लौट रहा था, तो मार्ग में उसने एक नीच जाति के पुक्कस को बौद्ध बनाया। गौतम वहां से कुशीनगर पहुंचा जो कि कपिलवस्तु से 80 मील उत्तर में था और वहां उसने अपनी मृत्यु की तैयारी की।

संध्या को उसने अपने सब शिष्यों को एकत्रित किया और उसने उन्हें शांतिपूर्वक समझाया कि चुन्द ने जो उसे भोजन दिया था, उसके लिये वह दोषी नहीं है। वह तो उसने अनुग्रह और प्रेम के साथ दिया था, इससे वह जीवन की वृद्धि तथा सौभाग्य को प्राप्त होगा। उस रात्रि को जबकि गौतम मृत्यु-शय्या पर अन्तिम श्वास ले रहा था, एक दर्शनशास्त्र का प्रकांड पंडित सुभद्र उससे कुछ

प्रश्न पूछने आया—लेकिन आनन्द उसे गौतम के पास नहीं जाने देता था। उसे भय था कि अब बातचीत से उस महान आत्मा को बहुत कष्ट होगा, पर गौतम इस जिज्ञासु को भी लौटाना नहीं चाहता था जोकि जिज्ञासा के लिये आया हो। गौतम ने उसे अपने पास बुलाया और उसे बुद्धों के तत्त्वों को समझाया। सुभद्र इससे बहुत प्रसन्न हुआ और वह बुद्ध का शिष्य बन गया। इसके कुछ ही क्षण बाद उस महान् पुरुष ने यह उपदेश देते हुये, इस जीवन को त्याग दिया—'समस्त एकत्रीभूत वस्तुओं का विनाश अवश्यंभावी है, परिश्रम के साथ अपनी मुक्ति पाने का यत्न करो।'

कुशीनगर में, वहां के अधिकारी मल्लों ने गौतम के शरीर का दाह किया और उसकी अस्थियों को अपने किले में सुरक्षित रक्खा। वहां पर 7 दिन तक नाचने और गाने का उत्सव मनाया गया। मालाओं तथा सुगन्धियों से उसका सत्कार किया गया।

गौतम की अस्थियों के 8 भाग किये गये। एक भाग मगध के सम्राट् अजातशत्रु ने पाया और उसपर राजगृह में एक इमारत बनवाई। वैशाली के लिच्छवियों ने दूसरा भाग पाया और वैशाली में उस पर एक इमारत बनवाई गई; इसी प्रकार कपिलवस्तु के शाक्यों ने, अलकम्पा के कोलियों ने, रामग्राम के कोलियों ने, पावा के मल्लों ने, और कुशीनगर के मल्लों और ब्राह्मण-वंश के दीपक ने उसका एक-एक भाग पाया और उन सब पर, उन सबों ने इमारतें बनवाईं। मोरियन लोगों ने उस चिता-भस्म पर एक इमारत बनवाई; और और ब्राह्मण दोन ने, उस पात्र पर जिस पर बुद्ध की देह जलाई गई थी, इमारत बनवाई।

2

बुद्ध के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धांत

इस अमर और महान पुरुष ने 82 वर्ष की अवस्था तक जिन सिद्धांतों और तर्कों के द्वारा ब्राह्मण-धर्म की प्रबल कट्टरता का विध्वंस किया था, उनपर हमें गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

यह विषय आजकल के विद्वानों के लिए खोज और अध्ययन का विषय है, और इसपर पूर्ण प्रकाश डालना हमारे लिए अशक्य है; परन्तु हम केवल स्थूल विषयों का उल्लेख करेंगे।

विचारणीय बात यह है कि इस धर्म का सारांश एक प्रकार की आत्मोन्नति और आत्म-निरोध है। इस मत में सिद्धांत और विश्वास गौण है। क्षोभ और कामनाओं से रहित पवित्र जीवन निर्वाह करने से मनुष्यों के दुःखों के दूर होने की संभावना है। यह दु.खवाद ही बौद्ध-सिद्धांत है। यह सिद्धांत इस प्रकार है—

1. आर्य सत्य चतुष्टय

(क)—दुःख

(ख) —दुःख का हेतु।

(ग)—दुःख का निरोध।

(घ)—दुःख-निरोध का उपाय।

बुद्ध के मत में, दुःख के स्वरूप प्रधानतः जरा, व्याधि और मरण हैं। जन्म से ही ये त्रिविध दुःख उत्पन्न होते हैं। इसलिए जन्म भी दुःख के अन्तर्गत है, यही दुःख है। इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता, यह प्रत्यक्ष सत्य है। इस लिये बुद्ध-देव ने इनका नाम 'आर्य सत्य चतुष्टय' रक्खा है। कहा है :—

"इदं थी पन भिक्खवे दुक्खं अरिय सच्चम, जातिपि
दुक्खा, जरापि दुक्खा, व्याधिपि दुक्खा, मरणंपि दुक्खम्

(महावग्ग 1-6-19)

"भिक्षुगण यही दुःख है—यह आर्य-सत्य-परम सत्य है। जन्म भी दुःख, जरा भी दुःख, मृत्यु भी दुःख और व्याधि भी दुःख।"

बुद्धदेव की दूसरी बात यह है कि इन दुःखों का कोई कारण अवश्य है। कारण न होता तो इनकी उत्पत्ति ही न हो सकती, यह बात भी माननीय है। अतएव दुःख का कारण भी एक आर्य सत्य है। उनकी तीसरी बात है दुःखों का निरोध-अर्थात् निवृत्ति, यह भी आर्य सत्य है। उनकी चौथी बात है दुःखों के निरोध का उपाय—यहभी एक आर्य-सत्य हैं।

उपर्युक्त वक्तव्य से स्पष्ट है कि बुद्ध का धर्म दुःखवाद से प्रारंभ होता है। हम पीछे सांख्य के प्रकरण में लिख चुके हैं कि बुद्ध-मत का आधार अधिकांश में कपिलमत पर निर्भर है; क्योंकि कपिल के सांख्य का भी मूल यही है। किस तरह दुःख की निवृत्ति होगी, सांख्य यही बताने को प्रवृत्त हुआ है।

अब देखिए, बुद्ध के दुःख विश्लेषण में ज़ो जरा, जन्म, मृत्यु और व्याधि बताए गये हैं, वे भी आर्य सिद्धांतों के आधार पर हैं 'आर्य सत्य चतुष्टय' नाम से बुद्ध ने अपने धर्म के 4 मूल सूत्र निर्माण किए हैं। यह पद्धति भी योग-शास्त्र या चिकित्सा-शास्त्र से ली हुई प्रतीत होती है।

2. मध्यम पथ

बुद्ध-देव का दूसरा सिद्धांत 'मध्यम पथ,' 'मज्झिमा-परिपदा' है। उनका कथन है कि दो अन्तिम कोटियां हैं। एक 'कामेषु काम सुखल्लिकानु योग' अर्थात् विषयों के उपभोग में लीन होकर रहना; और, दूसरा 'अत्त किल मथानु योग'—अर्थात् कठिन साधनाओं के द्वारा आत्मा को क्लांत करके नियुक्त रहना (महावग्ग 1-6-17) इन दोनों कोटियों को परित्याग करके मध्यम-मार्ग का अवलंब करना। न भोग-विलास में ही सर्वथा आसक्त रहना और न कठोर अनिद्रा उपवासादि से आत्मा ही को क्लेश देना।

3, अनित्य, दुःख और अनात्मा

बुद्ध का एक सिद्धांत यह भी है कि वे संसार की दृश्यमान वस्तुओं को अनित्य दुःख और अनात्मा कहते हैं। इस विषय में उनका उपदेश इस प्रकार है—भिक्षु जनों को संबोधन करके वे कहते हैं। (महावग्ग 1-6-42)

भिक्षगण! तुम क्या समझते हो? रूप नित्य है या अनित्य।

"भगवन्! वह अनित्य है।"

"अच्छा, जो अनित्य है-वह दुःखकर है या सुखकर ?"

"दुःख, अर्थात् दुःखकर !"

"अच्छा, जो अनित्य है और दुःख है, एवं स्वभाव से ही जो विविध प्रकार का परिणामशील या परिवर्तनशील है—इसके संबंध में क्या ऐसा सोचना युक्ति संगत है कि 'यह हमारा है,' 'यह हम हैं' और 'यह हमारी आत्मा है।'

"नहीं भगवन् ! ऐसा सोचना युक्ति-संगत नहीं है।"

आगे और भी लिखा है।

(महावग्ग 1-6-38)

"भिक्षुगण ! रूप अनात्मा है— अर्थात् रूप आत्मा नहीं है। रूप यदि आत्मा होता, तो वह पीड़ा के लिए न होता; किंतु हे भिक्षुगण ! जिस कारण से रूप आत्मा नहीं है, उसी कारण से वह पीड़ा के लिए है। यही अनित्य दुःख और अनात्मा का सिद्धांतवाद है।

4 निर्वाण-तृष्णाक्षय

बुद्ध का सिद्धांत है कि काम अथवा तृष्णा का सर्वतोभाव से परित्याग करने दुःख का निरोध होता है। और इस तृष्णा नाश ही का नाम 'निर्वाण' है। इसलिए निर्वाण का नाम 'तृष्णाक्षय' और दूसरा 'अनालय' है। आलय शब्द का अर्थ काम अथवा तृष्णा है। अतएव अनालय कहने से तृष्णा का क्षय ही समझना चाहिए।

5. वैदिक याग-यज्ञ और वेदों का प्रामाण्य

बुद्ध ने हिंसाश्रित वैदिक-यज्ञों का परित्याग किया है। और उन्होंने वेदों का प्रमाण्य भी स्वीकार नहीं किया।

दीधनिकाय के अन्तर्गत राजा महाविजित के यज्ञ का वर्णन करके बुद्धदेव ने कहा है—

"हे ब्राह्मण ! उस यज्ञ में गो-वध नहीं हुआ, छाग-वध नहीं हुआ, मेष-वध नहीं हुआ, कुक्कुट-वध नहीं हुआ, शूकर-वध नहीं हुआ, एवं अन्यान्य प्राणियों की भी हत्या नहीं हुई। इसी तरह यूप के लिए वृक्ष का छेदन नहीं हुआ, और आसन के लिए कुशोच्छेदन नहीं हुआ। उस स्थान पर भृत्य, किंकर और काम करने वालों को दंड द्वारा तर्जन नहीं करना पड़ा। यही क्यों। भय भी नहीं दिखाना पड़ा। वे लोग अश्रुमुख होकर रोते-रोते काम न करते थे। जो उनकी इच्छा हुई किया, जो इच्छा न हुई न किया। वह यज्ञ, घृत, तैल, नवनीत और दही, गुड़-मधु के द्वारा ही सम्पन्न हुआ था।

इस प्रकार बुद्ध ने हिंसाश्रित यज्ञों की उपेक्षा और अहिंसाश्रित यज्ञ की उपादेयता का वर्णन करके उत्तरोत्तर दानादि रूप उत्कृष्ट यज्ञ-समूहों का उल्लेख किया है। अंत में कहा है कि शील, समाधि और प्रजायज्ञ ही सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट और महाफलप्रद है। ब्राह्मण कूटदंत ने यज्ञ करने के लिए बहुत-से पशु एकत्रित किए थे। बुद्धदेव के सर्वोत्कृष्ट यज्ञ की बात सुनकर वह उत्फुल्ल हो उठा, बोला—"मैंने आपकी शरण ली है, मैंने ये सात सौ बैल, सात सौ बछड़े, सात सौ बछड़ियां, सात सौ बकरे और सात सौ भेड़ें छोड़ीं। मैंने इनको जीवन-दान दिया। ये सब हरिद्वर्ण तृण का भक्षण करें, और ठंडा पानी पीवें; ठंडी हवा से इनके शरीर शीतल हों।"

बुद्ध ने विविध यज्ञों की बात कहकर अंत में शील, समाधि, प्रज्ञा यज्ञ की बात कही है। शील से समाधि और समाधि से श्रद्धा का लाभ होता है। इस प्रकार प्रज्ञा-यज्ञ ही उनके मत में सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है।

6. अनीश्वरवाद

बौद्ध-धर्म अनीश्वरवादी है, परंतु बौद्ध-सिद्धांतों में कहीं ईश्वर के विरोध में उत्कृष्ट शास्त्रार्थ नहीं मिलता। बुद्ध के अनीश्वरवाद का केवल यही अर्थ है कि ईश्वरोपासना न करके भी मुक्ति मिल सकती है। वास्तव में यदि देखा जाय, तो यह सांख्य के अभिप्राय से मिलता-जुलता मत है।

7. कर्मवाद

कर्मवाद बौद्ध-धर्म में एक विशिष्ट स्थान रखता है। वह इस प्रकार है—

"कम्मस्स कोम्हि कम्मदायादो कम्मयोनि कम्मबन्धु कम्मपरिसरण्ते यं कम्मं करिस्सामि कल्याणं वा पापकं वा तस्स दायादो भविष्यामि।"

यह वाक्य अंगुत्तरनिकाय और नेत्तियकरण आदि कई स्थानों में है। इसका अर्थ है—कर्म ही हमारा निज का है। हम कर्म के—अर्थात् कर्म-फल के—उत्तराधिकारी है। कर्म ही हमारी उत्पत्ति का कारण है, कर्म ही हमारा बंधु है, कर्म ही हमारा शरण्य है, पुण्य हो अथवा पाप। हम जो कर्म करेंगे, उसी के उत्तराधिकारी होंगे—उसी का फल हमको भोग करना होगा।

8. मैत्री आदि भावनाएं

सब प्राणियों को मित्र के समान जानना भी मैत्री भावना है। बौद्ध-धर्म में

यह भावना सुप्रसिद्ध और अति सुन्दर है। इनके सिवा, मुदिता, उपेक्षा और करुणा आदि कई भावनाएं और भी हैं।

बौद्ध-धर्म का यही सिद्धांतवाद है। विचार कर देखने से ज्ञात होता है कि ये सब सिद्धांत आर्य-ग्रंथों से ही लिये गए हैं। और, वास्तव में उस हिंसावाद में प्रयोग-पूर्ण अहिंसावाद से ही बुद्ध-धर्म का इतना विस्तार हुआ।

दुःख नाश के आठ मार्ग वह बताते हैं—

(1) सत्य-विश्वास
(2) सत्य-कामना
(3) सत्य-वाक्य
(4) सत्य व्यवहार
(5) जीवन-निर्वाह के सत्य उपाय
(6) सत्य उद्योग
(7) सत्य विचार
(8) सत्य ध्यान

मृत्यु के दिन उसने अपने सिद्धांतों को इस प्रकार गिनाया—

(1) चारों सत्य ध्यान
(2) पाप के विरुद्ध 4 प्रयत्न
(3) महात्मा होने के 4 मार्ग
(4) पांच धर्म शक्तियां
(5) पांच ज्ञानेन्द्रियां
(6) सात प्रकार की बुद्धि
(7) आठ प्रकार के उत्तम मार्ग (महापरिनिव्वान सुत्त 3, 65)

बौद्ध सिद्धान्त के चार सत्य--(1) देह, (2) ज्ञान, (3) विचार और (4) कारण के विषय में हैं। चारों पापों के विरुद्ध प्रयत्नों का उल्लेख बौद्ध सिद्धांतों में है, यह पापों को रोकने और भलाई को बढ़ाने के सम्बन्ध में है। उन चारों प्रयत्नों से यह अभिप्राय है कि पापी अपने जीवन में अधिक भलाई करे और अधिक सच्चा हो।

इच्छा, प्रयत्न, तैयारी और खोज ये महात्मा बनने के चार कारण हैं। इन्हें 'इद्धि' कहते हैं। उत्तरकालीन बौद्ध 'इद्धि' का अर्थ अमानुषिक शक्तियां मानते हैं; परन्तु गौतम का अभिप्राय उन शक्तियों से था कि जिनका बहुत समय तक निरन्तर अभ्यास करने से मन इस देह पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लेता है। (इद्धि, प्रवृद्धि, द्वन्द्व, वीर्य, चित्त और विमर्श)।

आत्मीय-ज्ञान की पांच शक्तियां ये हैं—विश्वास, पराक्रम, विचार, ध्यान

और बुद्धि । (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा) ।

सात प्रकार की बुद्धि यह हैं—शक्ति, विचार, ध्यान, खोज, आनन्द, आराम और शान्ति । (स्मृति, धर्म-विचार, वीर्य, प्रीति, प्रश्रबिधा, समाधि और उपेक्षा ।

आठ प्रकार के मार्गों का वर्णन पीछे आ चुका है ।

बुद्ध का कथन है कि इस प्रकार आत्मोन्नति से मनुष्य दशों बन्धनों से मुक्त होता है और अन्त में उसे निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

बुद्ध कहता है—जिसने अपनी यात्रा समाप्त कर ली है, जिसने शोक को छोड़ दिया है, जिसने अपने-आपको सब तरफ से स्वतंत्र बना लिया है, जिसने अपने सब बन्धनों को तोड़ डाला है—उसके लिए कोई भी दुःख नहीं है—उसके लिए कोई बन्धन नहीं है । वे लोग अपने विचारों को भलीभांति संग्रह करके विदा होते हैं । वे अपने घर में सुखी नहीं रहते; जिस प्रकार वे राजहंस जिन्होंने अपनी झील को छोड़ दिया है, इसी प्रकार वह लोग अपने घर को त्याग देते हैं ।

जो ज्ञान के द्वारा स्वतन्त्र हो गया है उसके विचार शान्त हैं, उसके वचन और कर्म शान्त हैं और वह मनुष्य शान्त है ।

बुद्ध का अभिप्राय यह है कि मन की वह पापी अवस्था, जीवन और उसके सुखों की लालसा के नाश होने से है, जिससे नया जन्म होता है ।

निर्वाण से गौतम का यह अभिप्राय है कि वह जीवन ही में प्राप्त हो जाता है । उसका विश्वास था कि उसे उसने जीवन ही में प्राप्त कर लिया था । और वह उस दशा को निर्वाण कहता है कि जिसमें उसने मन की पापरहित शान्त अवस्था, अभिलाषाओं और क्षोभ से मुक्ति-पूर्ण शान्ति तथा भलाई और ज्ञान की अवस्था प्राप्त कर ली थी ।

बौद्धों का स्वर्ग मृत्यु नहीं है और त्रपटिक में परमानन्द की जिन अवस्थाओं का वर्णन है, वह मृत्यु के उपरान्त नहीं; किन्तु यहीं त्याग-पूर्ण जीवन व्यतीत करने से मिल जाती है ।

परन्तु अब एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि जिन लोगों ने निर्वाण प्राप्त कर लिया है, उनके लिए इस जीवन में सिवा धार्मिक जीवन व्यतीत करने के भविष्य में क्या कोई नया सुख और कर्म नहीं है ?

गौतम में इस विषय में संदिग्ध उत्तर दिये हैं । वह घूम-फिर कर यही बात बताता है कि बुद्ध के लिए निर्वाण के अतिरिक्त और कोई चीज नहीं है, वही स्वर्ग और वही मुक्ति है ।

मलुक्यपुत्र ने गौतम से इस बात पर विचार प्रकट करवाना चाहा और यह जानना चाहा कि पूर्ण बुद्ध मृत्यु के उपरान्त रहते हैं या नहीं ?

गौतम ने उसे उत्तर दिया—मलुक्यपुत्र ! भिक्षु होने के समय क्या मैंने तुमसे यह कहा था कि तुम मेरे शिष्य बनो, मैं तुम्हें इस बात का उत्तर दूंगा ?

मलुक्यपुत्र ने कहा—"यह आपने नहीं कहा था ?"

गौतम ने कहा—तब इस प्रश्न के उत्तर के लिए अनुरोध न करो यदि कोई मनुष्य जिसके विषैला बाण लग गया हो, यह कहे कि मैं अपने घाव को अच्छा नहीं होने दूंगा, जब तक कि मुझे यह मालूम न हो जाय कि मुझे जिसने मारा है, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र है तो निस्सन्देह वह मर जाएगा; क्योंकि वह नहीं जानता कि मृत्यु के उपरान्त उसका क्या होगा। इसलिए हे मलुक्यपुत्र ! जो कुछ मैंने प्रकट नहीं किया, उसे अप्रकट रहने दो और जो कुछ मैंने प्रकट किया है उसे जानो।

एक बार कौसलों के राजा प्रसेनजित साकेत से श्रावस्ती की यात्रा में क्षेमा भिक्षणी से से मिले, जोकि अपनी बुद्धि के लिए बहुत प्रसिद्ध थी। राजा ने सत्कार-पूर्वक उससे पूछा—हे पूज्यादेवि ! क्या पूर्ण बुद्ध मृत्यु के उपरान्त रहता है ?

उसने उत्तर दिया—"बुद्ध ने यह प्रकट नहीं किया।"

राजा ने फिर पूछा—"क्या पूर्ण बुद्ध मृत्यु के उपरान्त नहीं रहता ?

उसने उत्तर दिया—"महाराज ! यह भी बुद्ध ने प्रकट नहीं किया।"

इन उद्धरणों से मालूम होता है कि गौतम ने निर्वाण के बाद और बातों को प्रकट नहीं किया, लेकिन उसका उद्देश्य प्रकट है कि वह मनुष्य को दुःखों से बचाने के लिए, संसार में पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिए, और पूर्ण पाप-रहित अवस्था में रहने के लिए उत्तेजित करता है, और वह उसी को निर्वाण कहता है। उसका यह भी कहना है कि अगर कोई मनुष्य निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता तो उसका अवश्य ही पुनर्जन्म होगा। लेकिन इसमें भी एक बहुत महत्वपूर्ण बात है। बुद्ध पुनर्जन्म को तो स्वीकार करता है, लेकिन वह आत्मा के सिद्धान्त को नहीं मानता; परन्तु बात यह है कि यदि आत्मा ही नहीं है तो फिर पुनर्जन्म किसका होता है। इस सम्बन्ध में कर्म-सम्बन्धी बौद्ध सिद्धान्तों में कुछ खुलासा किया गया है। वहां बतलाया गया है कि मनुष्य के कर्म का नाश नहीं हो सकता, और उसका उचित फल अवश्य होता है। जब कोई जीवित मनुष्य मर जाता है तो उसके कर्म के अनुसार ही नये मनुष्य की उत्पत्ति होती है।

उत्तरकालीन समस्त बौद्य-ग्रन्थकारों ने पुनर्जन्म के प्रश्न को एक दीपक की लौ से उदाहरण दिया है; जैसे कि एक दीपक से दूसरा दीपक जलाया जाता है। है। यदि कोई निर्दोष मनुष्य इस संसार में दुःख पाता है तो वह कहता है कि यह मेरे कर्म का फल है, लेकिन यदि आत्मा नहीं है दुःख देने वाले मनुष्य और दुःख पाने वाले मनुष्य में समता कौन-सी बात की रह गई ?

इसका बुद्ध यह उत्तर देता है कि समता तो उसमें रहती है, जो मनुष्य के मर जाने और अणु के गल जाने के उपरान्त भी शेष रहता है अर्थात् उसके कार्यों, विचारों और वाणी में, जो कभी नष्ट नहीं होते।

यह तो निश्चित है कि बुद्ध ने पुनर्जन्म को प्राचीन हिन्दू-धर्म से लेकर एक नये ढंग से अपने धर्म में ग्रहण किया है। उसने उस समय के हिन्दू देवताओं को भी ग्रहण किया है । और उसके सिद्धान्त को जो मुख्य बात पवित्र जीवन थी, उसी के अनुसार उसने उनमें परिवर्तन किया है। उसने ऋग्वेद के तीनों देवताओं को माना है; परन्तु उन्हें सर्वप्रधान नहीं माना है। वह उपनिषदों के सर्वप्रथम देवता ब्रह्म को मानता है, किन्तु उसको प्रधान वस्तु नहीं स्वीकार करता।

जाति के सम्बन्ध में बुद्ध के विचार सबके लिए समान हैं। वह ब्राह्मण का सत्कार एक बौद्ध-भिक्षु की भांति करता है, लेकिन गुण और विद्या के लिए, उसकी जन्मजात जाति के लिए नहीं। वह जाति को मानने से इन्कार करता है।

एक बार दो ब्राह्मण वशिष्ठ और भारद्वाज इस बात पर विवाद करने लगे— कोई ब्राह्मण किस बात से होता है। और वे इस बात के निर्णय के लिए गौतम के पास आए।

गौतम ने उन्हें बतलाया कि जाति-भेद कोई वस्तु नहीं है। मनुष्य के गुण उसके कार्य से है, जाति से नहीं। उसने बतलाया कि मछलियां, चींटियां, चौपाये, सांप, घोड़े, कीड़े-मकीड़े, चिड़ियां इन सबमें भेद है और वह अपने-अपने गुणों द्वारा जाने जाते हैं। मनुष्य का भी एक गुण है और वह उसका कार्य है।

उस समय उन दोनों ब्राह्मणों को जो उपदेश बुद्ध ने दिये हैं, वह बौद्ध-ग्रन्थों में बड़ी सुन्दरता से इस प्रकार लिखे हुए हैं :—

"क्योंकि हे वशिष्ठ ! जो मनुष्य गाय रखकर जीवन निर्वाह करता है, वह किसान कहलाता है, ब्राह्मण नहीं।"

"जो मनुष्य शिल्प-कार्य करके जीवन-निर्वाह करता है, वह शिल्पकार कहलाता है, ब्राह्मण नहीं।"

और जो मनुष्य वाणिज्य के द्वारा जीवन-निर्वाह करता है, वह वणिक कहलाता है, ब्राह्मण नहीं।"

"जो मनुष्य दूसरे की सेवा करके जीवन-निर्वाह करता है, वह सेवक है, ब्राह्मण नहीं।"

"जो मनुष्य धनुर्विद्या से जीवन-निर्वाह करता है, वह सिपाही है, ब्राह्मण नहीं।"

"जो मनुष्य गृहस्थी के विधानों को करके जीवन-निर्वाह करते हैं, वे गृहस्थ हैं, ब्राह्मण नहीं।

मज्झिमनिकाय के अस्सलायन सुत्त में लिखा है; एक विद्वान् ब्राह्मण अस्सलायन गौतम से विवाद करने आया, और वह गौतम के इस सिद्धान्त पर विवाद करने लगा कि सब जातियां समान रूप से पवित्र हैं।

गौतम जो कि एक उत्तम तार्किक था, उसने उससे पूछा कि ब्राह्मणों की स्त्रियों

को दूसरी जाति की स्त्रियों क समान प्रसव-वेदना होती है कि नहीं ?

अस्सलायन ने कहा—"हां, होती है।"

गौतम ने पुछा—"क्या बेक्ट्रिया की भांति आस-पास के देश लोगों में रंग-भेद नहीं होता। फिर भी उन देशों में क्या गुलाम मालिक नहीं हो सकते।"

अस्सलायन ने उत्तर दिया – "हां, हो सकते हैं।"

गौतम ने पूछा—"तब यदि ब्राह्मण घातक, चोर, झूठा, लम्पट, कलंक लगाने वाला, तुच्छ, लालची, द्रोही और मिथ्या सिद्धान्त का मानने वाला हो, तो क्या वह मरकर दूसरी जाति की तरह दुःख और कष्ट में जन्म नहीं लेगा ?

अस्सलायन ने इसको भी स्वीकार किया कि अच्छे और बुरे कर्मों का फल तो मनुष्य को बिना जाति का विचार किये ही मिलेगा।

गौतम ने कहा—"यदि किसी घोड़ी का किसी गधे के साथ संयोग हो जाए तो उसकी संतान अवश्य खच्चर होगी, लेकिन क्षत्रिय और ब्राह्मण के संयोग से जो संतान होती है वह अपने मां-वाप ही की तरह होगी। इसलिए यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय में कोई भेद नहीं।

इस तर्क से अस्सलायन निरन्तर हो गया और वह चुपचाप दुःखी और नीची दृष्टि किये हुए कुछ सोचता रहा और इसके बाद वह गौतम का शिष्य हो गया।

बौद्ध ग्रन्थों में उसके उपदेशों का वर्णन स्पष्ट रूप से किया गया है—वह बतलाता है कि हे शिष्यों ! जिस प्रकार बड़ी-बड़ी नदियां; जैसे गंगा, यमुना, अश्रावती आदि जब समुद्र में पहुंचती हैं तो वहां अपने पुराने नाम और प्रसिद्धि को छोड़कर केवल समुद्र के नाम से पुकारी जाती हैं; ठीक उसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जब भिक्षु हो जाते हैं तो वह भिक्षु ही रह जाते हैं। उनमें कोई भेद नहीं रह जाता। बुद्ध ने बड़ी कड़ाई से इस नियम का पालन किया और उपाली, एक हज्जाम होते हुए भी, भिक्षु होने पर एक बड़ा पूज्य और माननीय भिक्षु हुआ।

थेरगाथा में एक हृदयग्राही कथा लिखी हुई है—उससे पता चलता है कि बौद्ध-धर्म भारतवर्ष में नीच जाति के लोगों के लिए खुला वरदान था। और वह लोग जातीय अन्यायों से बचने के लिए बड़ी उत्सुकता से इसे ग्रहण करते थे।

थेरसुनीत कहता है—'मैं एक नीच वंश में उत्पन्न हुआ हूं, मैं सूखे पत्तों को झाड़ने का काम किया करता था। मुझसे लोग बहुत घृणा करते थे। मैं सबके प्रति आज्ञाकारिता के भाव प्रकट करता और सबका सत्कार करता था। मैंने बुद्ध को भिक्षुओं सहित उस समय देखा जब वह मगध के सबसे प्रधान शहर में जा रहा था, तब मैंने अपना बोझा फेंक दिया और उसके निकट जाकर उसे दण्डवत् की। मुझ पर दया करके वह महान् पुरुष ठहर गया। मैंने उस महात्मा से प्रार्थना की कि वह मुझे भिक्षु बनाए, और उस दयालु ने कहा— हे भिक्षु ! इधर आओ,

और मैं भिक्षु बनाया गया।

बार-बार बुद्ध ने यह बतलाया है—"पवित्र उत्साह, पवित्र जीवन और आत्म-निरोध से मनुष्य ब्राह्मण हो जाता है। यह सबसे उच्च ब्राह्मण का पद है। मनुष्य अपने गुथे हुए बालों से और अपने वंश अथवा जन्म से ब्राह्मण नहीं हो जाता; परन्तु जिसमें सत्य और पुण्य हो, वही ब्राह्मण है और वही धन्य है।

बुद्ध कहता है—अरे मूर्ख! गुथे हुए बालों की क्या आवश्यकता है। और यह मृगछाला भी धारण करना फिजूल है, अगर तेरे भीतर लालच भरा हुआ है। मैं तो उसे ही ब्राह्मण कहता हूं जो महात्मा है और पूर्ण जागृत है, न नंगा रहने से, न जटा बढ़ाने से, न विभूति लगाने से और न मौन साधने से कोई मनुष्य अपने को पवित्र बना सकता है। जबतक कि वह अपनी कामनाओं को जीत नहीं लेता है। और जो पवित्र और शान्त जीवन आत्म-निरोध से पैदा होता है, उसी को बौद्ध लोग निर्वाण मानते हैं, और वह इसी संसार में पैदा हो सकता है।

इन तमाम बातों से सिद्ध होता है कि बौद्ध-धर्म परलोक के लिए कोई उज्ज्वल पुरस्कार नहीं देता। भलाई ही उसका पुरस्कार है। पुण्यमय जीवन ही बौद्धों का अन्तिम उद्देश्य है। इसी पृथ्वी पर पुण्यमय शान्ति ही बौद्धों का स्वर्ग और निर्वाण है।

अब देखना यह है कि गौतम ने हिन्दुओं के पुनर्जन्म के सिद्धान्त को परिवर्तित करके किस लिए ग्रहण किया है। यदि इस जीवन में निर्वाण की प्राप्ति न हो तो इस जीवन के त्याग और कर्मों का उचित फल दूसरे जन्मों में नहीं मिलेगा, इसलिए जब तक शिक्षा पूर्ण न हो जायगी तब तक निर्वाण नहीं हो सकता। जब शिक्षा पूर्ण हो जायगी तो निर्वाण मिल जायगा।

ऋग्वेद में जिन ब्रह्म इत्यादि देवताओं का वर्णन किया गया है उन्हें बुद्ध ने स्वीकार किया है, यह तो हम पहले ही बता चुके हैं। वह बतलाता है—सब प्राणी भिन्न-भिन्न मंडलों में बार-बार जन्म लेकर उस निर्वाण को प्राप्त करने का यत्न करते हैं जो सबके लिए मुख्य उद्देश्य है।

किन्तु इतना होने पर भी गौतम ने हिन्दू-धर्म के बहुत से सिद्धान्तों को और रीतियों को नहीं माना। उसने जाति-भेद को बिलकुल निकाल दिया, तपस्याओं को वह फिजूल कहता है, वैदिक विधानों को वह निरर्थक बताता है। इन तमाम विधानों की जगह उसने दयालु जीवन व्यतीत करने—मन, क्षोभ और कामनाओं को जीतने की आज्ञा दी है और उस उद्देश्य को प्राप्त करने की सरल रीति उसने इस संसार का त्याग बताया है। उसका यह उपदेश मानकर बौद्ध भिक्षुओं का एक बड़ा भारी सम्प्रदाय हो गया।

इस प्रकार बौद्ध-धर्म की सबसे बड़ी भारी विशेषता यह है कि वह इस लोक

ही में निर्वाण प्राप्ति की सलाह देता है। वह परलोक के लिए कोई पुरस्कार नहीं देता। वह मनुष्य के स्वभाव की, सबसे अधिक निष्काम भावनाओं को उत्तेजित करता है। वह अपने पुण्य को अपने पुरस्कार की तरह देखता है और उसको प्राप्त करने का उद्योग करता है।

वह शान्त और निष्पाप जीवन की प्राप्ति के अतिरिक्त मनुष्य में अथवा देवता में किसी उच्च उद्देश्य को नहीं जानता, वह पुण्यमय शान्ति के अतिरिक्त किसी मुक्ति को नहीं जानता, वह पवित्रता के अतिरिक्त किसी स्वर्ग को नहीं बताता।

इस प्रकार हिन्दू लोग जिस काल्पनिक स्वर्ग की कल्पना करते आये हैं, उसे बुद्ध ने बिल्कुल ही अपनी दृष्टि से निकाल दिया है।

इस तरह बुद्ध ने इस संसार के इतिहास में सबसे पहले यह प्रकट किया कि प्रत्येक मनुष्य इस जीवन में बिना ईश्वर, देवता अथवा मनुष्य की सहायता के, स्वयं ही मुक्ति अर्थात् निर्वाण को प्राप्त कर सकता है।

3

बुद्ध की आचार-संबंधी आज्ञाएं

बुद्ध ने जिस पवित्रता, त्याग और सदाचार के आचार पर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया था, और जिस सफलता से वह महान् गुरु पृथ्वी-भर में इतनी शीघ्रता से पूज्य बन गया; उसकी आचार-सम्बन्धी आज्ञाएं कितनी महान् थीं, इस बात पर बिना दृष्टि डाले हुए हम आगे नहीं बढ़ सकते। हम उनमें से कुछ आज्ञाओं का उल्लेख करेंगे जो वास्तव में बौद्ध-धर्म की शोभा है। गृहस्थों के सम्बन्ध में वह कहता है—

"गृहस्थों का भी कार्य मैं तुमसे कहूंगा कि श्रावक किस प्रकार आत्मोन्नति के लिए कार्य करे; क्योंकि भिक्षाओं का पूरा धर्म उन लोगों से पालन नहीं किया जा सकता जो सांसारिक कार्यों में लगे रहते हैं।"

"उसे न किसी जीव को मारना और न मरवाना ही चाहिऐ। यदि दूसरे लोग किसी जीव को मारें, तो उसे सराहना नहीं चाहिए। उसे सब जन्तुओं के चाहे वह बलवान् हों या निर्बल—मारने का विरोध करना चाहिए।"

"श्रावक को वह चीज कभी नहीं लेनी चाहिए, जो कि दूसरे की हो और उसको न दी गई हो। ऐसी वस्तु उसे दूसरों को भी नहीं लेने देनी चाहिए और जो लोग ऐसी चीज को लेते हों उनकी सराहना नहीं करनी चापिए। उसे सब चोरी का त्याग करना चाहिए।"

"बुद्धिमान् मनुष्य को व्यभिचार का त्याग जलते हुए कोयले की तरह करना चाहिए। यदि वह इन्द्रियों का निग्रह न कर सके तो उसे दूसरे की स्त्री के साथ व्यभिचार न करना चाहिए।"

"किसी मनुष्य को न्याय-सभा या किसी और सभा में ज्यादा न बोलना चाहिए। उसे न दूसरे से झूठ बुलवाना चाहिए और न झूठ बोलने वाले को सराहना ही चाहिए। उसे सब प्रकार से असत्य का त्याग करना चाहिए।"

"जो गृहस्थ इस धर्म को मानता है; उसे नशीली चीजें नहीं पीनी चाहिए, न दूसरों को पिलानी चाहिए। और जो पीते हों उन्हें यह जानकर न सराहना

चाहिए, ऐसा करना पागलपन है ।"

"ये पांचों आज्ञाएं जो पंचशील के नाम से प्रसिद्ध हैं' सब बौद्धों, गृहस्थों और भिक्षुओं के लिए हैं। वह संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(1) कोई किसी जीव को न मारे। (प्राणातिपात विरति)

(2) जो वस्तु न दी गई हो उसे न ले । (उदत्तादान विरति)

(3) झूठ न बोलना चाहिए । (मृषावाद विंरति)

(4) नशे की वस्तु नहीं पीनी चाहिए। (सुतमैरय प्रमाद स्थान विरति)

(5) व्यभिचार नहीं करना चाहिए । (काम मिथ्याचार विरति)

तीन नियम और दिए गए हैं जो अत्यावश्यक माने गए हैं; परन्तु वह कट्टर और धार्मिक गृहस्थ के लिए हैं। वह संक्षेप में ये हैं—

(1) रात्रि को देर में भोजन नहीं करना चाहिए। (अकाल भोजन विरति)

(2) माला नहीं पहननी चाहिए, और सुगन्धि नहीं लगानी चाहिए। (माल्यगंध विलेपन तिरति)

(3) भूमि पर सोना चाहिए। (उच्चासन शयन तिरति)

कट्टर और धार्मिक गृहस्थ के लिए इन आठों आज्ञाओं के, जो कि अष्टाङ्-शील नाम से प्रसिद्ध हैं, पालन करने की प्रतिज्ञा करने के लिए कहा गया है ।

और इन आठों नियमों के अतिरिक्त दो नियम और भी हैं। वह ये हैं— नाच, गाने-बजाने से निषेध तथा सोने-चांदी को प्रयोग में लाने से निषेध।

(नृत्य गीत वादित्त विरति) जात रूप रजत प्रतिग्रह विरति)

ये दसों आज्ञाएं (दसशील) भिक्षुओं के लिए आवश्यक हैं; जैसे पंचशील गृहस्थों के लिए।

"अपने माता-पिता का सत्कार करना और इज्जतदार व्यापार करना ।" यद्यपि ये दो बातें आज्ञाओं में सम्मिलित नहीं हैं, तथापि उसी सूत्र में सब गृहस्थों को उनका पालन करने के लिए कहा गया है। उसे भक्ति के साथ अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिए और कोई इज्जत का व्यापार करना चाहिए। जो गृहस्थ इसका पूर्णतया पालन करता है; वह सयंपभस (स्वयंभु) देवता के पास जाता है।

गृहस्थ-धर्म का अधिक विस्तृत वर्णन प्रसिद्ध सिगालोवादसूत्र में दिया गया है, जिसे उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों बोद्ध मानते हैं। और जिसका अनुवाद यूरोप की भाषाओं में कई बार हुआ है । उन धर्मों के वर्णन से हिन्दू-समाज की अवस्था तथा हिन्दुओं के सामाजिक जीवन के आदर्श का इतना स्पष्ट यथार्थज्ञान होता है कि हमें उसके उद्धृत करने में कोई रुकावट नहीं होती—

1. माता-पिता और लड़के

माता-पिता को चाहिए कि—

(1) लड़कों को पाप से बचावें।
(2) पुण्य-कार्य करने की शिक्षा दें।
(3) उन्हें शिल्प और शास्त्रों में शिक्षा दिलावें।
(4) उनके लिए योग्य पति वा पत्नी दें।
(5) उन्हें पैत्रिक अधिकार दें।

लड़कों को चाहिए कि—

(1) जिन्होंने मेरा पालन किया है, उनका मैं पालन करूंगा।
(2) मैं गृहस्थी के उन धर्मों का पालन करूंगा जो मेरे लिए आवश्यक हैं।
(3) मैं उनकी सम्पत्ति को रक्षा करूंगा।
(4) मैं अपने को उनके वारिस होने के योग्य बनाऊंगा।
(5) उनकी मृत्यु उपरान्त मैं सत्कार से उनका ध्यान करूंगा।

2. गुरु और शिष्य

शिष्य को अपने गुरुओं का सत्कार करना चाहिए—

(1) उनके सामने उठकर।
(2) उनकी सेवा करके।
(3) उनकी आज्ञाओं का पालन करके।
(4) उन्हें आवश्यक वस्तुएं देकर।
(5) उनकी शिक्षा पर ध्यान देकर।

गुरु को अपने शिष्यों पर इस प्रकार स्नेह दिखाना चाहिए—

(1) सब अच्छी आदतों की शिक्षा देकर।
(2) उन्हें विद्या ग्रहण करने की शिक्षा देकर।
(3) उन्हें शास्त्र और विद्या सिखाकर।
(4) उनके मित्र और साथियों में उनकी प्रशंसा करके।

3. पति और पत्नी

पति को अपनी पत्नी का इस भांति पालन करना चाहिए—

(1) सत्कार से उनके साथ व्यवहार करके।
(2) उस पर कृपा करके।

(3) उसके साथ सच्चा रहकर।

(4) लोगों में उसका सत्कार करा कर।

(5) उसे योग्य आभूषण और वस्त्र देकर।

पत्नी को अपने पति पर इस भांति स्नेह दिखाना चाहिए —

(1) अपने घर के लोगों से उचित व्यवहार करके।

(2) मित्रों और सम्बन्धियों का उचित आदर-सत्कार करके।

(3) पतिव्रता रहकर।

(4) घर का प्रबन्ध किफायत के साथ करके।

(5) जो कार्य उसे करने पड़ते हों उनमें चतुराई और परिश्रम दिखलाकर।

4. मित्र और साथी

सभ्य मनुष्य को अपने मित्रों से इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए—

(1) उपहार देकर।

(2) मृदु सम्भाषण से।

(3) उनकें लाभ की उन्नति करके।

(4) उनके साथ अपनी बराबरी का व्यवहार करके।

(5) उनके साथ अपना धन खर्च करके।

मित्रों को उसके साथ इस प्रकार प्रीति दिखानी चाहिए—

(1) जब वह बेखबर हो तो उसकी निगरानी करके।

(2) यदि वह अल्हड़ हो तो उसकी सम्पत्ति की रक्षा करके।

(3) आपत्ति समय में शरण देकर।

(4) दु:ख में उसका साथ देकर।

(5) उसके कुटुम्ब के साथ दया दिखाकर।

5. स्वामी और नौकर

स्वामी को अपने सेवकों को इस प्रकार सुख देना चाहिए—

(1) उनकी शक्ति के अनुसार उन्हें काम देकर।

(2) उचित भोजन और वेतन देकर।

(3) रोग की अवस्था में उनके लिए यत्न करके।

(4) उन्हें असाधारण उत्तम वस्तुएं देकर।

(5) उन्हें कभी-कभी छुट्टी देकर।

नौकरों को अपने स्वामी पर इस प्रकार भक्ति प्रकट करनी चाहिए :

(1) वे उसके पहले उठें।

(2) वे उसके पीछे सोवें।

(3) उन्हें जो कुछ दिया जाय उससे सन्तुष्ट रहें।

(4) वे उसकी प्रशंसा करके।

6. गृहस्थ और धार्मिक लोग

इज्जतदार मनुष्य भिक्षुओं और विद्वानों की इस प्रकार सेवा करें—

(1) कार्य में प्रीति दिखाकर।

(2) वाणी में प्रीति दिखाकर।

(3) विचार में प्रीति दिखाकर।

(4) उनका मन से स्वागत करके।

(5) उनकी सांसारिक आवश्यकताओं को दूर करके।

उन लोगों को उनके साथ इस प्रकार प्रीति दिखानी चाहिए—

(1) उसे पाप करने से रोककर।

(2) उसे पुण्य करने की शिक्षा देकर।

(3) उसके ऊपर दयाभाव दिखाकर।

(4) उसे धर्म की शिक्षा देकर।

(5) उसके शंकाओं को निवारण करके और धर्म-मार्ग बताकर।

उपर्युक्त बातों से हमें हिन्दू-जीवन का आनन्दमय गृहस्थ-सम्बन्धी तथा सामाजिक विचारों और कर्त्तव्यों का कैसा चित्र मिलता है। अपने बच्चों को शिक्षा धार्मिक-शिक्षा और सांसारिक सुख देने के लिए माता-पिता की उत्सुक भावना; अपने माता-पिता को पालन करने, उनका सत्कार करने और मृत्यु के उपरान्त आदर-पूर्वक उनका स्मरण करने के लिए पुत्र की भक्ति-पूर्ण अभिलाषा; शिष्य का अपने गुरु के प्रति सत्कार का व्यवहार, और गुरु की शिष्य के लिए उत्कट चिन्ता तथा प्रीति; पति का अपनी पत्नी के साथ सत्काम, दया, मान और प्रीति के साथ व्यवहार, जो हिन्दू-धर्म में सदैव से चला आया है और हिन्दू पत्नियों की अपनी गृहस्थी के कामों में सचाई और चौकसी, जिसके लिए वह सदा से प्रसिद्ध हैं; मित्रों मित्रों में, स्वामी और नौकर में, गृहस्थों और धार्मिकों के बीच जो दया के भाव रखने का उपदेश दिया गया है—वह सब सर्वोत्तम शिक्षाएं हैं, जिन्हें हिन्दू-धर्म ने दिया है—ये सर्वोत्तम कथायें हैं जिन्हें हिन्दू-धर्म ने हजारों वर्षों तक निरन्तर बताया है। बौद्ध-धर्म ने इन सम्पूर्ण बातों को प्राचीन हिन्दू-धर्म से गृहण किया है और अपने धर्म-ग्रन्थों में सुरक्षित रखा है।

अब हम गौतम की कर्त्तव्य-विषयक आज्ञाओं को छोड़कर उन आज्ञाओं और परोपकारी कहावतों का वर्णन करेंगे, जिनके कारण बौद्ध-धर्म ने संसार में उचित

प्रसिद्धि पाई है। गौतम का धर्म परोपकार और प्रीति का धर्म है और ईसामसीह के जन्मकाल के पांच शताब्दी पहले इस श्रेष्ठ हिन्दू-आचार्य ने यह शिक्षाएं प्रकट की थीं—

"घृणा कभी घृणा करने से बन्द नहीं होती। घृणा प्रीति से बन्द होती है, यही इसका स्वभाव है।"

"हम लोगों को प्रसन्नता-पूर्वक रहना चाहिए और उन लोगों से घृणा नहीं करनी चाहिए जो हमसे घृणा करते हों। जो लोग हमसे घृणा करते हों उनके बीच में हमें घृणा से रहित होकर रहना चाहिए।"

"क्रोध को प्रीति से और बुराई को भलाई से विजय करना चाहिए। लालच को उदारता से और झूठ को सत्य से जीतना चाहिए।"

ये बड़ी शिक्षाएं गौतम के सुशील और पवित्र-आत्मा शिष्यों के लिए कही गई हैं। हम उनमें से एक कथा को संक्षेप में लिखेंगे। अपने अनुयाइयों में झगड़ों और भेद-भाव को रोकने के लिए गौतम कहता है—(ऐसी कथाएं जातक कथाएं कहलाती हैं।)

"हे भिक्षुओ! प्राचीन समय में बनारस में काशियों का एक राजा ब्रह्मदत्त रहता था। उसकी मालगुजारी बहुत अधिक थी, और वह एक बड़े देश का स्वामी था। उसके कोश और भण्डार पूर्ण थे।

उसी समय कौशलों का राजा दीर्घकीर्ति था, जो धनाढ्य नहीं था। उसका कोश और मालगुजारी बहुत थोड़ी थी। उसके पास छोटी-सी सेना और थोड़े से रथ थे। वह एक छोटे-से देश का राजा था; जैसा कि बहुधा हुआ करता है। धनाढ्य राजा ने इस निर्बल राजा का देश और धन छीन लिया। दीर्घकीर्ति अपनी रानी के साथ बनारस भाग गया, और वहां संन्यासी के भेष में एक कुम्हार के यहां रहने लगा। वहां उसकी रानी के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम दीर्घायु रखा गया। कुछ काल में वह लड़का बड़ा हो गया। इस बीच में राजा ब्रह्मदत्त ने सुना कि उसका शत्रु उसके नगर में भेष बदलकर रहता है। उसने आज्ञा दी कि वह उसके सामने लाया जाए और निर्दयता से मार डाला जाए। दीर्घकीर्ति का पुत्र दीर्घायु उस समय बनारस के बाहर रहता था; परन्तु अपने पिता के मारे जाने की खबर सुनकर वह नगर में आ गया था। मरते हुए राजा ने अपने पुत्र की ओर देखा और अमानुषिक क्षमा से अपने पुत्र को उपदेश किया।

मेरे प्यारे दीर्घायु! घृणा, घृणा करने से शान्त नहीं होती, घृणा प्रीति से शांत होती है। हे भिक्षुओ! तब युवा दीर्घायु बन में चला गया और वहां वह जी भरकर रोया। तब वह अपने विचार दृढ़ करके नगर को लौटा और राजा के तबेले में एक हाथी को सिखलाने वाले की अध्यक्षता में नौकरी कर ली। वह सबेरे उठा और सुन्दर स्वर में गाने और बीन बजाने लगा। उसका स्वर इतना मधुर था

कि राजा ने इस बात की खोज की कि इतने सबेरे तबेले में यह कौन गा रहा है ? तब इस युवा को लोग राजा के पास ले गये । उसने राजा को प्रसन्न किया और राजा ने उसे अपने पास नौकर रख लिया ।

एक समय राजा दीर्घायु को साथ लेकर अहेड़ को गया । दीर्घायु के हृदय में ईर्षा की अग्नि जल रही थी । उसने राजा के रथ को इस प्रकार हांका कि सेना एक ओर रह गई और राजा का रथ एक दूसरी ओर । राजा बहुत थक गया था, और युवा दीर्घायु की गोद में अपना सिर रखकर लेट गया । थकावट के कारण वह तुरन्त सो गया ।

हे भिक्षुओ ? उस समय वह दीर्घायु सोचने लगा कि काशी के राजा इस ब्रह्म-दत्त ने हमारी बड़ी हानि की है । इसने हमारी सेना, रथ, राज्य, कोष और भण्डार सब-कुछ छीन लिया और मेरे माता-पिता को भी मार डाला; पर अब मेरे द्वेष का बदला लेने का समय आ गया है । यह विचार कर उसने अपनी तलवार खींची, परन्तु बदला लेने वाले इस राजकुमार को अपने पिता के अन्तिम वाक्यों का स्मरण हो आया—"मेरे प्यारे दीर्घायु ? घृणा घृणा से शान्त नहीं होती, घृणा प्रीति से शान्त होती है ।" यह विचार आते ही राजकुमार ने सोचा कि पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना उचित नहीं है, बस उसने अपनी तलवार रख दी ।

राजा ने एक बड़ा भयानक स्वप्न देखा और वह भयभीत होकर जाग उठा । दीर्घायु ने उससे ससे सब सत्य-सत्य बात कह दीं । राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने कहा—"मेरे प्यारे दीर्घायु ! मुझे जीवन-दान दो, मेरे प्यारे दीर्घायु !! मुझे जीवन-दान दो ।"

उस सुशील युवा ने अपने पिता की आज्ञा का पालन करके अपने पिता के वध को क्षमा कर दिया और ब्रह्मदत्त को जीवन-दान दिया । ब्रह्मदत्त ने उसके पिता की सेना और रथ, उसका राज्य, उसका कोष और भण्डार सब उसे लौटा दिया ।

"हे भिक्षुओ ! जब उन राजाओं में इतना धैर्य और दया है, जो राजछत्र और तलवार धारण करते हैं, तो हे भिक्षुओ, कितनी अधिक धीरता और दया तुममें होनी चाहिए । तुमने इतने उत्तम सिद्धान्तों और शिक्षा के अनुसार पवित्र-जीवन ग्रहण किया और धीर तथा दयालु देखे जाते हो । जिससे तुम्हारा यश संसार में प्रसिद्ध है ।"

परन्तु केवल धैर्य और दया की ही नहीं वरन् पुण्य और भलाई के कार्यों की भी शिक्षा गौतम ने अपने अनुयाइयों को बारम्बार जोर के साथ दी है । उस महान् पुरुष के उत्तम और फलहीन शब्दों के अनुसार जो कार्य नहीं करता, वह उस सुन्दर फूल की तरह है, जो रंग में तो बड़ा उत्तम परन्तु सुगन्धि-रहित है ।

पाप न करना, भलाई करना, अपने हृदय को शुद्ध करना, यही बुद्धों की

शिक्षा है ।

इसी प्रकार भलाई करने वाला जब संसार को छोड़कर दूसरे संसार में जाता है, तो वहां उसके भले कर्म उसके सम्बन्धी, और मित्रों की भांति स्वागत करते हैं ।

वह मनुष्य बड़ा नहीं है जिसके सिर के बाल पक गये हों, जिसकी अवस्था बड़ी हो गई हो; प्रत्युत वह वृथा ही वृद्ध कहलाता है; वह मनुष्य जिसमें सत्य, पुण्य, प्रीति, आत्मनिरोध और संयम है और जो अपवित्रता से रहित और बुद्धिमान है, वही बड़ा कहलाने योग्य है ।

गौतम ने मातङ्ग नामक एक चाण्डाल की कथा कही है, जिसने अपने अच्छे कर्मों के द्वारा सबसे अधिक प्रसिद्धि पाई, जो देवताओं के विमान पर बैठा और ब्रह्मा के लोक में चला गया । अतएव जन्म से कोई मनुष्य, न तो चाण्डाल होता है और न ब्राह्मण ही । केवल कर्मों ही से चाण्डाल और कर्म ही से वह ब्राह्मण होता है ।

सूत्रनिपात के आमगन्धसूत्र में गौतम, कश्यप ब्राह्मण से कहता है—जीव को नष्ट करना, हिंसा करना, काटना, बांधना, चोरी करना, झूठ बोलना, छल करना, व्यभिचार करना, निन्दा करना, कपट करना, नशा करना, धोखा देना, निर्दयता, घमण्ड, बुरा मन और बुरा कार्य—ये सब मनुष्य को अपवित्र करते हैं । मछली मांस न खाने से, नंगा रहने से, सिर मुंडाने से, गुथे हुए बाल रखने से, भभूत लगाने से, रूखा वस्त्र धारण करने से, हवन करने से, तपस्या करने से, भजन करने से और बलिदान और यज्ञ करने से वह पवित्र नहीं हो सकता ।

समस्त धर्मपाद में 423, सद्व्वहार की आज्ञाएं हैं, जो उत्तमता और सद्-व्यवहार की दृष्टि से इस भांति की अन्य आज्ञाओं के संग्रहों से बढ़कर हैं, जो किसी समय या किसी देश में किये गये हैं । और बौद्धों की धर्म-पुस्तकों में जो कथाएं, कहावतें, उपमाएं और आज्ञाएं हैं, उनका संग्रह करने से एक बड़ी अच्छी पुस्तक बन जाये । उनमें से कुछ उद्धृत वाक्यों को देकर इस अध्याय को पूर्ण करते हैं ।

सब मनुष्य दण्ड से डरते हैं, सब मनुष्य मृत्यु से भयभीत होते हैं । स्मरण रक्खो, तुम भी उन्हीं के समान हो, अतएव हिंसा मत करो और न दूसरे से हिंसा कराओ ।

दूसरों का दोष सहज में दिखलाई देता है, परन्तु अपना दोष दिखलाई देना कठिन है । मनुष्य अपने पड़ोसी के दोषों को भूसी की भांति पछारता है, परन्तु अपने दोषों को वह इस भांति छिपाता है; जैसे कोई छल करने वाला जुआरी से बुरे वाले को छिपाता है ।

यह उत्तम प्रकार की शिक्षा की उन्नति कहलाती है, कि यदि कोई अपने पापों को पाप की भांति देखकर उनका सुधार करे और भविष्य में उनको न करे ।

इस प्रकार जो मनुष्य अलग-अलग है, उन्हें वह एक करता है । जो मित्र हैं, उन्हें उत्साहित करता है । वह मेल करने वाला है, मेल का चाहने वाला है, मेल के लिए उत्सुक है, जो ऐसे कार्यों को करता है जिससे मेल हो ।

4

बौद्ध संघ

बुद्ध ने जब अपने धर्म का स्वरूप ठीक-ठीक संगठित देखा और उसे यह ज्ञात हो गया कि देश के सार्वजनिक जीवन में उसका आदर हुआ है, तो उसने अपने धर्म को देश-देशान्तरों में फैलाने के लिए एक बौद्ध-संघ स्थापित किया। बौद्धों का यह संघ संसार के धार्मिक इतिहासों में सबसे अधिक प्रतिष्ठा का पात्र और सब संघों से श्रेष्ठ है। आज तक इसके बराबर का संघ नहीं हुआ। यद्यपि पहले अनेकों ऋषि, मुनि, साधु, सन्यासी, महात्मा थे और उनके बड़े-बड़े संघ थे; परन्तु बौद्ध के मुकाबले का एक भी न हुआ; दूसरे साधु, ऋषि, मुनि सदैव अपनी आत्मा का कल्याण करने में ही तत्पर रहते थे; पर बौद्ध-संघ में यही विशेषता थी, जिससे कि आज वह अपने आदर्शों की छाप विश्व-भर के धार्मिक संघों पर डाल रहा है। अपनी आत्मा के कल्याण के साथ-ही-साथ, संसार के कीचड़ में फंसे हुए मनुष्यों को भी सदुपदेश सुनकर अपने पथ पर लाना उसका मुख्य उद्देश्य था।

भिक्षु-संघ के लिए जो नियम बुद्ध ने बनाये थे वे वास्तव में प्राचीन हिन्दू शास्त्रों के वे ही नियय थे, जोकि ब्रह्मचारियों और सन्यासियों के लिए बनाये गये थे। उपनिषदों में, रामायण में, महाभारत में ऋषियों-मुनियों और तपस्वियों के वर्णन मिलते हैं और उनके आचार-विचार व नियमों का वर्णन मिलता है। वही नियम और आचार-विचार बौद्ध-धर्म की बुनियाद हैं; पर बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए नये-नये उपायों, रीतियों और मार्गों का अवलम्बन किया कि जिससे अधिक-से-अधिक प्रगति के साथ धर्म का प्रचार हो सकता है। उसने सोचा कि किस तरह अधिक-से-अधिक संख्या में लोगों को अपने मत में मिलाया जाये।

धार्मिक इतिहासों में यह सबसे पहली घटना है कि एक हिन्दुस्तानी आदमी, हिन्दुओं का धर्माचार्य, हिन्दुओं से सम्बन्ध रखने वाले धर्म को हिन्दुस्तान ही में नहीं, वरन् हिन्दुस्तान के बाहर देशों में भी गैर हिन्दुओं की रग-रग में भर दे। बुद्ध ने अपने सैकड़ों भिक्षुओं को भारत के बाहर अन्य देशों में भेजकर करोड़ों मनुष्यों को बौद्ध धर्मावलम्बी बनाया और आस-पास के सभी टापुओं व देशों में,

जैसे चीन, जापान, लन्का, जावा, सुमात्रा व अनेकों में बौद्ध-धर्म को फैला दिया।

जैसा कि हम कह चुके हैं, यद्यपि बुद्ध के समय में अनेकों सन्यासी, साधु और धार्मिक-संघ थे, किन्तु भारत के बाहर भारतीय सभ्यता का प्रचार करना और अभारतीयों को भारतीय संस्कारों की शिक्षा देना बुद्ध का ही काम था, जो कि हिन्दुओं के इतिहास में सबसे निराला और पहला ही था।

विनयपिटक में लिखा है कि—उस समय डरबेल काश्यप, नंद काश्यप और गम्या काश्यप नामक तीन जटिल डरबेल नामक ग्राम में रहते थे। वे क्रम से 300-400 और 500 जटिलों के गुरु थे। जटिल उन्हें कहते हैं, जो दाढ़ी-मूंछ नहीं कटवाते और बालों को बढ़ाये रखते हैं, जिन्हें वैरवानस सम्प्रदाय के भी कहते हैं। और राजगृह में एक संजय नाम के सन्यासी 250 सन्यासियों के साथ रहते थे। इससे यह ज्ञात होता है कि बुद्ध के सयय में भी अनेकों सन्यासी व संघ थे, पर उन सबसे बढ़ा-चढ़ा और बड़ा बौद्ध-संघ हुआ। किसी ने भी बौद्ध-संघ के बराबर काम नहीं किया। बुद्ध ने ही एक ऐसा संघ उत्पन्न किया कि जो समस्त एशिया में शीघ्र ही फैल गया।

बुद्ध उन स्त्री-पुरुषों को जिन्हें कि संसार से विरक्ति हो गई हो, बिना किसी जाति-भेद-भाव के अपने संघ में शामिल कर लेते थे। बुद्ध के पूर्व शूद्र लोग सन्यासी और वानप्रस्थी नहीं हो सकते थे; लेकिन बुद्ध ने जाति-पांति के भेद-भाव बिलकुल उठा दिये थे, पर बहुत-से ऐसे लोग भी थे कि जो बौद्ध-संघ में शामिल न हो सकते—एक वह जिन्हें छूत की बीमारी हो; दूसरे राज-पुरुष; तीसरे चोर जो दण्ड पा चुके हों; जो क्रीतदास हों; जो कर्जदार हों; जिनकी उम्र 15 वर्ष से कम हो और जो नपुंसक हों। संघ में भर्ती होने के पहले हरेक व्यक्ति को प्रव्रज्या ग्रहण करनी पड़ती थी। इसके बाद एक संस्कार किया जाता था कि जिसे उपसम्पदा कहते हैं और इसके बाद वे भिक्षु और भिक्षुणी पद के अधिकारी होते थे और भिक्षु-संघ में भर्ती कर लिए जाते थे। जब तक बुद्ध जीवित रहे, तब तक प्रव्रज्या, सम्पदा, उपसम्पदा आदि संस्कार अपने हाथों से करते थे। हम कह चुके हैं कि सबसे पहले 5 भिक्षुओं ने प्रव्रज्या ली थी। इसके बाद जब संघ की वृद्धि हुई तो बुद्ध ने अपने प्रमुख शिष्यों को प्रव्रज्या, उपसम्पदा, सम्पदा आदि संस्कार करने का अधिकार दे दिया। जो स्त्री और पुरुष उपसम्पदा ग्रहण करना चाहते थे उनका सबसे पहले मुंडन किया जाता था और एक पीला वस्त्र उन्हें पहनने को दिया जाता था। और फिर वह पुरुष या स्त्री जिनका कि यह संस्कार किया जाता था उकड़ू बैठकर कहता था—अहं बुधं शरणां गच्छामि, अहं धर्मं शरणं गच्छामि, अहं संघं शरणं गच्छामि। पीछे से उपसम्पदा की एक नई विधि निकाली गई। प्रथम उपाध्याय से और बाद में आचार्य से उपसम्पदा ग्रहण की जाने लगी। आचार्य का दर्जा बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता था। आचार्य से उपसम्पदा ग्रहण

करने वाले को अन्तेवासी कहा जाता था। उपसम्पदा ग्रहण करने के 10 वर्ष बाद सब तरह योग्य होने पर आचार्य बन सकता था। जब कोई आदमी भिक्षु की दीक्षा लेने के लिए आचार्य के पास आता था तो वह अपने वस्त्र इस ढंग से पहनता था कि एक कन्धा खुला रहे। वह आचार्य के सामने उसके चरणों में तीन बार प्रणाम करता और कहता—हे भगवन्! आप मुझे अपना अन्तेवासी बनाइये। जब आचार्य स्वीकार कर लेते तो भिक्षुओं की एक परिषद् बैठती थी जोकि उसकी परीक्षा लेती थी। यदि वह प्रश्नों का ठीक तरह शान्ति से उत्तर दे देता था तो उसकी दीक्षा दी जाती थी। जब कोई व्यक्ति प्रव्रज्या लेने के लिए आचार्य के पास आता तो एक भिक्षु दस भिक्षुओं के सामने जाकर कहता कि अमुक व्यक्ति भिक्षु बनना चाहता है, अगर संघ आज्ञा दे तो वह उपस्थित किया जाये। संघ के आज्ञा देते ही तुरन्त ही वह संघ के सामने उपस्थित होता और वह हाथ जोड़कर कहता कि मेरा इस पापपूर्ण संसार से उद्धार कीजिए। तब एक विद्वान् भिक्षु-संघ की आज्ञा लेकर उससे कुछ प्रश्न पूछता। इन प्रश्नों का यह अभिप्राय होता था कि वह कोई भिक्षु होने का अनाधिकारी तो सिद्ध नहीं होता। इसका सन्तोष-जनक उत्तर देने पर संघ उसे आज्ञा दे देता था और वह आचार्य के पास सब संस्कार करके संघ में शामिल कर लिया जाता था परन्तु दो-एक प्रकार के व्यक्ति संघ में एकाएक भर्ती नहीं किये जाते थे—एक तो वह कि जो अन्य धर्म को छोड़कर आया हो। जो अन्य धर्म को छोड़कर संघ में भर्ती होने आता था उसे चार महीने तक ऐसे ही संघ में रक्खा जाता था। अगर वह चार महीने में संघ को सन्तुष्ट न कर सकता था तो उसका फिर संस्कार नहीं हो सकता। 15 वर्ष से अधिक किन्तु 20 वर्ष से कम उम्र वाला व्यक्ति प्रव्रज्या ग्रहण कर सकता था; परन्तु उपसम्पदा संस्कार के लिए उसे 20 वर्ष की उम्र तक रहना पड़ता था। इस बीच में उसे अपने आचार्य के आधीन रहना पड़ता था। इस अवस्था में वह श्रमण कहलाता था। उससे यम और नियमों का पालन कराया जाता था जिन्हें शिक्षा-पद कहा जाता था। इन्हें बौद्ध साहित्य में 10 शील के नाम से पुकारा जाता है। वे दस शील इस प्रकार के थे—

(1) हिंसा न करना, (2) चोरी न करना, (3) झूठ न बोलना, (4) नशा न करना, (5) व्यभिचार न करना, (6) असमय भोजन न करना, (7) खाट या बिछौने पर न सोना (8) नाचने, गाने-बजाने में दिल न लगाना, (9) सोना-चांदी काम में न लाना, (10) शृंगार न करना।

यदि पहले के पांच शीलों के विरुद्ध कोई भिक्षु आचरण करता हुआ पाया जाता तो संघ उसे बाहर निकाल देता और अगर कोई पीछे के पांच शीलों को भंग करते हुए पाया जाता जो उसे दण्ड दिया जाता था—

भिक्षु होने के पश्चात् इन चार नियमों (चारश्रियों) का विशेष तौर से पालन

करना पड़ता था।

(1) सब प्रकार के व्यभिचारों से बचना—भिक्षा से प्राप्त भोजन

(2) किसी पराई वस्तु पर लुब्ध दृष्टि न करना—चीचड़ों का बनाया गया चीवर

(3) पूर्ण अहिंसा का पालन करना—वृक्ष के नीचे निवास

(4) किसी दैवी या अमानुषी शक्ति का दावा न करना—गो मूत्र का भेषज

साथ ही इन चार पातकों से बचना पड़ता था—आगे नीचे काटे चार पातक दें।

उसे भिक्षु होने के पश्चात् दस वर्ष तक बिलकुल अपने आचार्य के आधीन रहना पड़ता था। इस काल में भिक्षु और आचार्य का क्या सम्बन्ध रहना चाहिए, इस विषय में विनयपिटक के महावर्ग में बुद्ध ने कहा है—हे भिक्षुओ ! आचार्य को चाहिए कि वह अपने शिष्य को अपने पुत्र की भांति समझे और शिष्य को चाहिए कि वह अपने आचार्य को अपने पिता के समान समझे। इस प्रकार वे परस्पर एक दूसरे का आदर करते हुए धर्म की उन्नति करें।

भिक्षु अपने आचार्य की सेवा एक दास की भांति करते थे। वे उनके लिए भोजन आदि लाते, मकान साफ कर रखते और उनके कपड़े धोते थे। आचार्य भी उनका पूरी तरह से खयाल रखते थे। वे उन्हें अच्छी तरह ग्रन्थों का अध्ययन कराते थे और बीमार हो जाने पर उनकी देखभाल करते और उन्हें दवादारू देते थे। जब कोई आचार्य मर जाता, गृहस्थी में वापिस लौट जाता, अथवा अन्य धर्म में चला जाता, तो भिक्षुओं को अपना नया आचार्य चुनना पड़ता था।

दस वर्ष के पश्चात् भिक्षु, संघ का एक अंग बन जाता था, वह छोटी-से-छोटी बात में संघ के नियमों के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करता था और वह यदि इसमें जरा भी त्रुटि करता तो उसे दण्ड दिया जाता था।

भिक्षु तीन कपड़े पहन सकते थे जोकि तृचीवर कहलाते थे। ये कपड़े भगवां होते थे। एक कपड़े को अन्तरवासक कहते थे, जोकि पहनने के काम में आता था, दूसरा कपड़ा उत्तरासंग कहलाता था जोकि दुपट्टे की तरह ओढ़ने के काम में आता था; तीसरा कपड़ा संगाठी कहलाता था, जोकि छाती के चारों तरफ लपेटा जाता था। वह एक तरह के लबादे की तरह होता था, वह कमर में एक रस्सी से बंधा रहता था।

गृहस्थी-उपासकों बौद्ध-भिक्षुओं को वस्त्र बांटना एक बड़े भारी पुण्य का काम समझते थे। हर शरदऋतु में बौद्ध-भिक्षुओं को वस्त्र बांटे जाते थे। भिक्षु तीन वस्त्रों के अतिरिक्त एक भिक्षा-पात्र, एक अंगोछा, एक कर्धनी और एक उस्तरा रखते थे। हर पन्द्रहवें दिन भिक्षु लोग परस्पर एक-दूसरे का मुण्डन कर देते थे। वर्षा-ऋतु उन्हें एक ही जगह व्यतीत करनी पड़ती थी। उसे चातुर्मास कहते थे।

यह चातुर्मास आषाढ़ की पूर्णिमा से कार्तिक की पूर्णिमा तक माना जाता था। चातुर्मास में भिक्षुओं को पांच प्रकार के स्थानों में रहने की आज्ञा थी। बोहर, अड्ढ योग, प्रासाद, हर्म्य और गुहा। बोहर एक मठ ही का नाम न था, बल्कि वह एक पूजा का स्थान था और आगे बढ़कर वह संघाराम की शक्ल में बढ़ गया था। गुहा पहाड़ में पत्थर को खोदकर बनाई जाती है, ऐसी बहुत-सी गुफाएं गया के पास और नागार्जुन की पहाड़ियों में पाई जाती हैं। अशोक ने ऐसी अनेकों गुफाएं खुदवाई थीं। लंका के महेन्द्र-पर्वत पर भी बहुत-सी गुफाएं बौद्धों की हैं।

भिक्षु अपनी आजीविका स्वयं उपार्जन करते थे। उनकी आजीविका भिक्षा थी, किन्तु भिक्षा मांगते समय वह मौन रहते थे। बीमारी के समय ही भिक्षु मक्खन, मिश्री, गुड़, शक्कर, तेल आदि काम में ला सकते थे। जब तक बुद्ध जीवित रहे, तब तक उनकी आज्ञा और शब्द ही संघ के लिए कानून थे, किन्तु संघ की शक्तियां इस कदर बढ़ रही थीं कि उसका शासन और संरक्षण एक आदमी के लिए कठिन हो गया था।

धीरे-धीरे प्रबन्ध की एक स्थायी व्यवस्था बंध गई। इस व्यवस्था की ठीक-ठीक परिभाषा बुद्ध के निर्वाण के बाद राजगृह की पहली सभा में हुई। इस समय संघ अपने नियन्त्रण में स्वतन्त्र था। वस्तव में यह एक बड़ी भारी कमी रह गई। इस समय सब अपनी-अपनी डफली बजाने लग गये थे और आपस में बिछुड़ गये थे। इतना होते हुए भी यह बात हमें कहनी पड़ेगी कि सभी संघ बुद्ध के वचनों को और नियमों को पूरी तरह पालते गये। उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

निर्वाण के समय भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा—तुम यह मत सोचना कि तथागत की मृत्यु के बाद हमें शिक्षा देने वाला कोई न रहेगा। संघ के लिए हमने जो नियम बना दिये हैं, वही तुम्हारे गुरु और आचार्य का काम करेंगे।

आगे चलकर प्रत्येक संघ में एक परिषद् होती थी जोकि जरूरत के समय अपनी बैठक करती थी। उस बैठक में वे भिक्षु सम्मिलित होते थे, जिनको कि उपसम्पदा मिल गई हो। परिषद् को सम्मति देना और निर्णय करने का विशेष एक नियम बनाया गया था। भिन्न-भिन्न कार्य के लिए भिन्न-भिन्न प्रबन्ध-नियम थे। परिषद् जुड़ने पर आवश्यक प्रस्ताव उसके सामने रक्खा जाता था, उन पर विचार किया जाता था और उन पर बहुमत से फैसला होता था। विवादास्पद विषय किसी बड़े संघ को निर्णय के लिए भेजा जाता था और उसका फैसला सर्वथा माना जाता था। इस पर भी यदि निर्णय न होता था तो एक विशेष परिषद् बैठाई जाती थी, जिसमें बहुत बड़े-बड़े भिक्षु सम्मिलित किये जाते थे।

साधारणतया संघ के नियम चलाने के लिए कुछ साधारण पदाधिकारी नियुक्त थे; जैसे भक्तोद्देशक जो भोजन बांटता था, भांडागारिक जो भंडार का

प्रबन्ध करता था, पानीयागारिक जो पानी का प्रबन्ध करता था।

अपनी विद्या और उम्र के अनुसार भिक्षुओं में दर्जे होते थे; जैसे स्थावर उपाध्याय, आचार्य आदि। इतना होते भी उनमें आपस में कोई भेद-भाव न था।

भिक्षुणिओं के लिए भी सब ये ही नियम थे; किन्तु उनका सब काम बिलकुल पृथक था। यद्यपि वह संघ भिक्षुओं ही के आधीन था। भिक्षुणियों का दर्जा भिक्षुओं से नीचा माना जाता था। इस विषय में बहुत से नियम और उपनियम बनाये गये थे कि भिक्षुणियों के संसर्ग से भिक्षुओं का संघ कहीं अपवित्र व दोष-पूर्ण न हो जाए।

इस प्रकार बौद्ध-संघ की स्थापना में तीन महत्वपूर्ण बातें थीं—

(1) सहयोग और सार्वजनिक बुद्धि से काम लेना।

(2) संगठन और व्यवस्था बनाये रखना।

(3) प्रचार और धर्म विस्तार के नये-नये आयोजन करना।

इनका यह परिणाम हुआ कि बौद्ध-धर्म एक दिन सम्पूर्ण एशिया में फैल गया।

5

बौद्ध-संघ के भेद

बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् महाज्ञानी महाकाश्य ने, जोकि बुद्ध के शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ था, इस बात पर विचार करना आवश्यक समझा कि (धर्म धम्य पाले) और विनय दोनों साथ मिलाकर गाये जायं और एक बार धम्य और विनय का परिपूर्ण पाठ किया जाय। 499 अर्हत इस कार्य के लिये चुने गये और आनन्द ने इसमें सम्मिलित होकर 500 की संख्या पूरी की। उपाली हज्जाम विनय में, और आनन्द धर्म-सूत्र में प्रामाणिक माने गये।

यह सभा राजगृह में ईसा के 477 वर्ष गौतम की मृत्यु होने पर हुई, और उसमें धम्म और विनय के पवित्र पाठ को निश्चित किया गया और शुद्ध किया गया।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया बुद्ध के सिद्धांतों को लेकर दार्शनिक मतभेद होते चले गये। बहुत-से नियम और उपनियम-सम्बन्धी भेद भी बढ़ते चले गये। अन्त में गौतम की मृत्यु के 100 वर्ष पश्चात् ईसा से 377 वर्ष पूर्व वैशाली में विज्जयनों ने 10 विवादस्पद विषयों को प्रकाशित किया और उनके निर्णय के लिए दूर-दूर से बौद्ध भिक्षुओं को एकत्रित करने का उद्योग किया। कंकड के पुत्र यश ने पश्चिमी देश के बौद्धों को, अवन्ती के बौद्धों को और दक्षिणी प्रदेश के समस्त बौद्ध-भिक्षुओं को यह कहकर दूत भेजा और उनको यह सन्देश दिया --जब तक जो धर्म नहीं है उसका प्रचार न हो जाय और जो धर्म है वह पृथक् न कर दिया जाय, जो विनय में नहीं है उसका प्रचार न हो जाय और जो विनय में है उसे अलग न कर दिया जाय--इससे पहले ही हम लोगों को इस संबंध में सावधान हो जाना चाहिए।

यश को पश्चिमी प्रान्तों से बहुत सहायता मिली, लेकिन वैशाली के विरोधी भिक्षुओं ने पूर्व से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

वास्तव में बात यह थी कि यह भेद वैशाली के पूर्वी बौद्धों में और गंगा के ऊपरी मार्ग के प्रांतों के पश्चिमी बौद्ध तथा मालवा और दक्षिण के बौद्धों में था।

पूर्वीमत के समर्थक वैशाली के विज्जयन थे जो बास्तव में तूरान की पूची जाति से सम्बन्ध रखते थे। यह कहा जा सकता है—यह झगड़ा तूरानी बौद्धों में और हिन्दु बौद्धों में था। इस सभा में जो निर्णय हुआ इसका फल यह हुआ कि उत्तर भारत के समस्त बौद्धों ने इन्हीं पूर्वी बौद्धों से सम्मिलित होकर अपना एक पृथक सम्प्रदाय स्थापित कर लिया, और बाद में इसमें चीन के लोग, और तिब्बत के लोग भी सम्मिलित हो गये।

इस सभा में 4 भिक्षु पश्चिम के और 4 भिक्षु पूर्व के पंच चुने गये और 10 विवादास्पद प्रश्नों को उपस्थित किया गया। पंचों ने इन दसों आज्ञाओं को अस्वीकार किया और वैशाली के भिक्षुओं अनुकूल अपना मत दिया। केवल छठी आज्ञा के विषय में किसी विशेष अवस्था के अन्दर आज्ञा दी। इस सभा में 700 भिक्षु सम्मिलित किये गये, लेकिन विरोधी-दल वालों ने पंचों के निर्णय को नहीं माना। यद्यपि निर्णयक पंच लोग बहुत वृद्ध, विद्वान, समर्थ और पूज्य लोग थे, लेकिन अधिक लोग उनके विरोधी हो गये और उत्तरी बौद्ध-संघ पूर्वी बौद्ध-संघ से पृथक हो गया। बौद्ध-धर्म की दो भिन्न-भिन्न शाखायें हो गईं—एक चीन, नैपाल और तिब्बत के उत्तरी बौद्ध और दूसरे लंका, बर्मा और स्याम के दक्षिणी बौद्ध लोग। एक स्थविर कहलाते थे और दूसरे महासांधिक। दोनों सम्प्रदायों के सिद्धांतों में सब से बड़ा विरोध यह था—स्थविरों का यह कहना था कि बुद्ध होने की शक्ति उद्योग से ही प्राप्त हो सकती है; लेकिन महासांधिक कहते थे कि प्रत्येक प्राणी में वह शक्ति जन्म से ही होती है और वह शनैः-शनैः क्रमशः विकास को प्राप्त होती है। दक्षिणी सम्प्रदाय वालों के ग्रन्थ हीनयान और उत्तरी सम्प्रदाय वालों के ग्रन्थ महायान के नाम से प्रसिद्ध हुए। आगे चलकर स्थविरों का अड्डा काश्मीर में रहा और महासांधिक सम्प्रदाय वालों का मगध की राजधानी में रहा विचार की बात यह है कि प्रत्येक धर्म में जब नई प्रणालियां चलती हैं, तो वह चाहे कितनी ही अच्छी क्यों न हों, उनका स्वीकृत होना बाहरी घटनाओं के बन्धन पर है।

ईसाई-धर्म के विकास के प्रारम्भ में, जब सम्राट कनस्तेण्टाइन ने इसको ग्रहण किया, तब यह वह समय था कि जब रोमन साम्राज्य और रोमन-सभ्यता समस्त यूरोप में प्रधान मानी जाती थी; लेकिन फिर भी समस्त पश्चिमी यूरोप में बड़ी तेजी से ईसाई-धर्म फैल गया। इसी प्रकार मुसलमान धर्म का प्रचार भी उसी समय हुआ, जिस समय संसार में उसका विरोध करनेवाला कोई धर्म न था। इस समय तक यूरोप में सैनिक-राज्य नहीं स्थापित हुए थे। भारतवर्ष में भी जब आर्य पंजाब से नीचे उतरे और समस्त भारत के भागों को विजय करना शुरू कर दिया तो इसके पश्चात् उनकी हिन्दू-सभ्यता का प्रचार हुआ। बौद्ध-धर्म के प्रचार में भी एक विशेषता थी। बौद्ध-धर्म में सबसे बड़ी बात यह थी—ब्राह्मणों में और

10295-

नीच जाति में कोई भेद नहीं माना गया था, जो कि तत्कालीन हिन्दू-धर्म का सबसे मुख्य सिद्धाँत था। इसलिए बौद्ध-धर्म का प्रारम्भिक विकास मगध राज्य में हुआ, चूंकि मगध का राज्य शूद्र वंश में बहुत समय तक रहा। पंजाब और उत्तर भारत में जहां कि आर्यों की वस्ती थी, बौद्ध-धर्म बहुत सुस्ती से फैला। लेकिन आगे चलकर ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दि में, जब मगध राज्य ने समस्त भारत में सार्वभौम शक्ति प्राप्त कर ली, तब बौद्ध-धर्म भी भारत का सार्वभौम धर्म हो गया। शिशुनाग वंश जिसमें बिम्बसार और अजातशत्रु पैदा हुए थे, ईसा से 370 वर्ष पूर्व ही नष्ट हो चुका था। इसके पश्चात् नन्द का राज्य हुआ और उसे मार कर चन्द्रगुप्त ने ईसा के लगभग 320 वर्ष पूर्व मगध की गद्दी को अपने अधिकार में कर लिया। यह चन्द्रगुप्त शूद्रा के गर्भ से पैदा हुआ था, इसलिए उच्च-जाति के लोग इस राजा को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे। यद्यपि चन्द्रगुप्त और उसका पुत्र विन्दुसार बौद्ध नहीं हुए, लेकिन बिन्दुसार का उत्तराधिकारी महा-प्रतापी अशोक ईसा से 260 वर्ष पहले जब मगध की गद्दी पर बैठा, तब उसने बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया और वह बौद्ध-धर्म का भारतवर्ष और भारतवर्ष के बाहर बड़ा भारी प्रचारक हुआ। अशोक का नाम बोलगा नदी से लेकरजापान तक और साइबेरिया से लेकर लंका तक विख्यात हो गया। अशोक का राज्य सयस्त उत्तर-भारत में हो गया था। उसके शिलालेख पंजाब, बिहार, आसाम में अब भी पाये जाते हैं। ईसा के 242 पूर्ष यूवं अपने राज्य के अठारहवें वर्ष में उसने तीसरी सभा की और यह सभा 9 मास तक होती रही। और इसमें मौग-लिक पुत्र तिष्य ने एक हजार भिक्षुओं को एकत्रित किया। एक हजार भिक्षुओं ने सम्मिलित होकर बुद्ध के पवित्र पाठ का उच्चारण किया और दोहराया।

आगे चलकर महासांधिक सम्प्रदाय के 9 और स्थविर सम्प्रदाय के 11 मेद पड़े। ये बीसों ही सम्प्राय हीनयान के नाम से प्रसिद्ध हैं। स्थविर के पृष्ठपोषक काश्मीर के राजा कनिष्क हुए। इसने बौद्ध-धर्म की बड़ी भारी सभा की थी और वहुत-से ग्रंथों का संग्रह किया व बहुत-से नये ग्रन्थ भी लिखवाये। इन सब सम्प्रदायों में मुख्य सम्प्रदाय सर्वास्तित्ववाद है। इस सम्प्रदाय के अनेकों ग्रन्थ बौद्ध साहित्य में उपलब्ध हुए। इन लोगों ने सब वस्तुओं के आंतरिक और बाह्य दृष्टि से दो भेद किए हैं—एक का नाम संस्कृत-धर्म और दूसरे का असंस्कृत-धर्म है। आंतरिक विभाग में रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, ये पांच स्कन्ध हैं। चक्षु इन्द्रिय आयतन, श्रोत्र इन्द्रिय आयतन, घ्रणा इंद्रिय आयतन जिह्वा इंद्रिय आयतन, काय इंद्रिय आयतन; मन इंद्रिय आयतन, रूप इंद्रिय आयतन, गंध इंद्रिय आयतन, शब्द इंद्रिय आयतन, रस इंद्रिय आयतन, स्पर्श इन्द्रिय आयतन धर्म इंद्रिय आयतन—ये द्वादश आयतन कहलाते हैं। चक्षु इंद्रिय धातु, श्रोत्र इंद्रिय धातु, घ्राण इंद्रिय धातु, जिह्वा इंद्रिय धातु, काय इंद्रिय धातु, मन इंद्रिय

धातु, रूप धातु, शब्द धातु, गन्ध धातु रस धातु, स्पर्श धातु, धर्म धातु, चक्षु विज्ञान धातु, श्रोत्र विज्ञान धातु, घ्राण विज्ञानधातु—जिह्वा विज्ञानधातु, काय विज्ञान धातु और मन विज्ञान धातु—ये अष्टादश धातु कहलाती हैं। ये आंतरिक विभाग के 35 भेद हुए।

वाह्य विभाग के 75 भेद हैं—

रूप 12—5 इंद्रियां, 5 विषय, 1 अविज्ञप्ति रूप, 1 चित्त। चैत्त 46—10 महाभूमिका धर्म—1 वेदना, 2 संज्ञा, 3 चेतना, 4 स्पर्श, 5 छंद, 6 प्रज्ञा, 7 स्मृति, 8 मनस्क्कायर, 9 अधिमोक्ष, 10 समाधि।

10 कुशल महाभूमिका धर्म—

(1) श्रद्धा (2) प्रश्रब्धि (3) अपत्रपा (4) अधवेश (5) वीर्य (6) अप्रमाद (7) उपेक्षा (8) ह्री (9) अलोभ (10) अहिंसा।

6 क्लेश महाभूमिका धर्म—

(1) मुधामोह (2) कौसिदय (3) स्थान (4) प्रमाद (5) अश्रद्धा (6) औद्धत्य।

2 अकुशल भूमिका धर्म—(1) अह्रीकता (3) अनपत्रपा।

10 परित्त क्लेश भूमिका धर्म—

(1) क्रोध (2) ईर्षा (3) विहिशा (4) माया (5) मृक्ष (6) मात्सर्य (7) परिताप (8) उपनाह (9) शाब्य, (10) मद।

8 अनियत भूमिका धर्म—

(1) कौकृत्य (2) वितर्क (3) प्रतिघ (4) मिद्ध (5) विचार (6) मान (7) राग (8) विचिकित्सा। ये 46 चैत्त हुए।

14 चित्त विप्रयुक्त—

(1) प्राप्त (2) अप्राप्ति (3) समागत (4) असंज्ञिका (5) असंज्ञि समाप्ति (6) निरोध समाप्ति (7) जीवित (8) जाति (9) स्थिति (10) जरा (11) अनित्यता (12) नामकाय (13) पद काय (14) विज्ञान काय।

3 असंस्कृत धर्म—

(1) प्रति संख्या निरोध (2) अप्रति संख्या निरोध (3) आकाश। ये 75

बाह्य विभाग हुए ।

संस्कृत-धर्म का मतलब उन वस्तुओं से है जो दूसरे के मेल से बनी हैं। संस्कृत-धर्म चार हैं—रूप, चित्त, चैत्य और चित्त विप्रयुक्त । बौद्ध दर्शन में धर्म के अनेक अर्थ हैं; जैसे नियम, कानून, मजहब श्रद्धा, संसार, जगत दृश्यमान् वस्तु इत्यादि ।

जो वस्तु अपनी इंद्रियों को रुकावट दे वह "रूप धर्म" कहलाता है, रूपधर्म को हम प्रकृति कहते हैं। और अंग्रेजी में इसे मैटर कहते है। रूप धर्म 11 हैं—5 इंद्रियां, 5 इंद्रियों के विषय और 11 वां अविज्ञप्ति। यह अभिव्यक्ति वह रूप है जो अभी अभिव्यक्त न हुआ हो, अर्थात् जो स्पष्ट नहीं हुआ हो । हिन्दू-शास्त्र में 5 इंद्रियाँ, 5 उनके विषय और 11 वां मन माना गया है । ज्ञात होता है कि 11 वां मन ही बौद्ध-दर्शन में अविज्ञप्ति रूप से ग्रहण किया है । ये ग्यारहों धर्म परमाणुओं से बने हुए हैं। परमाणु रूप का छोटे-से-छोटा भाग है । न हम उसे उठा सकते हैं, न चीर सकते हैं, न फैंक सकते हैं, न छू सकते हैं, न देख सकते हैं, न खींच सकते हैं, न लम्बा बना सकते हैं । यह न नीचा है, न ऊंचा है, न टेढ़ा है न गोल है, न छोटा है न लम्बा, न चौकोर है, न गोल है। किसी भी इंद्रिय के द्वारा वह देखा नहीं जा सकता। रूप नित्य है। परमाणु भूत और भविष्यकाल में रहता है । वर्तमान काल में नहीं रहता। परमाणु अदृश्य है, पर जब वह दूसरे परमाणुओं के साथ मिलता है, तब देखा जा सकता है, इसे अणु कहते हैं। संसार की वस्तुएं इस क्रम से बनी हैं ।

7 परमाणु = 1 अणु
7 अणु = 1 लोहरजः
7 लोहरजः = 1 अब्रजः
7 अब्रजः = 1 शशरजः
7 शशरजः = 1 अविरजः
7 अविरजः = 1 गोरजः
7 गोरजः = 1 वातायनछिद्र
7 वातायनछिद्र = 1 लिक्षा
7 लिक्षा = 1 यूकः
7 यूकः = 1 वयः
7 वयः = 1 अंगुलि पर्व

इस प्रकार संसार के नदी, पहाड़, समुद्र आदि सब पदार्थ बने हैं। बौद्ध दर्शन में परमाणु जीवित वस्तु है, और इनमें पृथ्वी, वायु, अग्नि और जल इनके गुण रहते हैं। इस प्रकार संसार की सब वस्तुएं इन चार परमाणुओं से बनी हैं।

रूप विषय—रूप दो प्रकार का है, वर्ण और संस्थान। एक प्रकार से उसके 20 भेद भी किए गये, हैं, वर्ण के 12 और संस्थान के 8। मूल वर्ण चार हैं—सफेद, लाल, नीला और पीला। शेष आठों रंग उन चारों के मेल से बनते हैं। संस्थान 8 प्रकार के हैं—लम्बा, गोल, छोटा, चौकोर, ऊंचा, नीचा, सीधा और टेढ़ा।

शब्द विषय—वह है, जिसका ज्ञान श्रोत्र-इंद्रिय से होता है। इसके दो भेद हैं—उपात्त महाभूत का शब्द, जिसमें ज्ञान-शक्ति है और अनुपात महाभूत का शब्द जिसमें ज्ञान-शक्ति नहीं है। इन दोनों शब्दों के दो-दो भेद हैं; एक तो सत्व संख्यात जो सुना जाय और दूसरा असत्व संख्यात जो न सुना जाय। पहले का उदाहरण है ग्रामोफोन और दूसरे का आकाशवाणी। फिर इनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—सुख शब्द और दु:ख शब्द।

गंध विषय—जो घ्राण इंद्रिय से मालूम हो, वह गंध है। गंध चार प्रकार की है—सुगंध, दुर्गन्ध, समगंध और विषम गंध। समगंध शरीर का पोषण करती है और विषय गन्ध शरीर का पोषण नहीं करती।

रस विषय—यह जिह्वा से जाना जाता है, और यह 6 प्रकार का है—मीठा, खट्टा, लवण, कटुक, तीखा और कषायला।

स्पर्श विषय—यह कायइंद्रिय से मालूम होता है। यह 11 प्रकार का है—अप, तेज, पृथ्वी और वायु, ये चार भूत स्पर्श विषय कहलाते हैं। शेष के 7 भौतिक स्पर्श विषय कहलाते हैं।

विशेष बात यह है कि शीत, भूख और पिपासा इनकी गणना बौद्ध-दर्शन ने स्पर्श में ही की है।

इन पांचों विषयों की पांच इन्द्रियां हैं। बौद्ध-दर्शन में इन्द्रियों के कई अर्थ हैं, जैसे परम ईश्वर अधिपति। बाहर के विषयों को ग्रहण करके इन्द्रियां चित्तोत्पाद करती हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही विज्ञान का सम्बन्ध है। बौद्धों ने पांच विज्ञान माने हैं और पांच ज्ञानेन्द्रियों को 5 प्रसाद के रूप में माना है। प्रत्येक इन्द्रिय के दो भाग हैं—एक मुख्य और दूसरा गौण; जैसे देखने की नस तो मुख्य है और आंख गौण। मुख्य इन्द्रिय अदृश्य है और गौण दृश्य।

अविज्ञप्ति रूप—अविज्ञाप्ति रूप का अर्थ उस कर्म से है, जो अभी तक प्रकट न हुआ हो। यहां रूप का अर्थ कर्म होता है। जब हम कोई शुभ-अशुभ कर्म करते हैं, अथवा भावना करते हैं तो एक प्रकार की गुप्तशक्ति की छाप हमारे शरीर में लग जाती है, और उसी को अविज्ञप्ति रूप कहते हैं, अर्थात् जो कर्म दूसरे को तो मालूम न हो, परन्तु वह शरीर में छिपा रहे।

कर्म—कर्म के दो भेद हैं—चैतव कर्म, जिसे मनस्कार भी कहते हैं और दूसरा चैतसिक कर्म। चैतसिक कर्म के दो भेद हैं—काययिक कर्म और वाचिक

कर्म। उनके भी दो-दो भेद हैं, विज्ञप्ति और प्रवज्ञप्ति कर्म।

चित्त के विषय में बौद्ध ग्रंथकार थोड़ा विस्तार से वर्णन करते हैं— चित्त चैत्त-धर्म का राजा है, उसको मन भी कहते हैं, वह चेतन है, इसलिए चित्त, मनन करता है, अतः मन और विवेक करने से उसे विज्ञान कहते हैं। बौद्ध-दर्शन में चित्त, मन और विज्ञान का अर्थ एक ही है। अर्थात् पहला चक्षु-विज्ञान, दूसरा स्रोत-विज्ञान, तीसरा घ्राण-विज्ञान, चौथा जिह्वा-विज्ञान, पांचवां काय-विज्ञान और छठवां मनोविज्ञान, ये चित्त के छह भेद हैं। इस सबका सम्बन्ध अपनी-अपनी इन्द्रियों से है। ये छह हो विज्ञान मिलकर विज्ञान-शक्ति बनाते हैं। इन्हीं छः विज्ञानों के साथ छः विज्ञान काय भी है; जैसे—चक्षु-विज्ञान काय श्रोत्र-विज्ञान काय, मनोविज्ञान वर्ण, संस्थान, शब्द, गन्ध।

विज्ञान के तीन भेद हैं—स्वभाव निर्देश, प्रयोग निर्देश और अनुस्मृति निर्देश। इसमें पहले का सम्बन्ध वर्तमानकाल से है, दूसरे का तीनों कालों से, तीसरे का सम्बन्ध केवल भूतकाल है। इन छः प्रकार के विज्ञानों में चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय-विज्ञानों में स्वभाव-निर्देश होता है और मनोविज्ञान में तीनों कर्म होते हैं। पहले पांचों को अनिर्देश विज्ञान कहते हैं। स्वभाव निर्देश पहले 5 विज्ञान कार्यों में होता है। इनमें प्रयोग निर्देश और अनुस्मृति निर्देश नहीं होगा, इस कारण उन्हें अनिर्देश कहते हैं।

चैत्त धर्म—चैत्त-धर्म चित्त के अनुगत होता है। किसी वस्तु के साधारण गुण तो चित्त देखता है और विशेष धर्म चैत्त देखता है; जैसे हम दूर से जब किसी मनुष्य को देखते हैं तो चित्त के द्वारा हमें मालूम होता है कि यह कोई पुरुष या स्त्री है। इसके इस प्रकार का रूप व आकृति होगी। चैत्य धर्म के द्वारा हम यह मालूम करते हैं कि इसके विशेष गुण क्या-क्या होंगे। इसके एक आंख होगी, इतनी लंबाई होगी, नाक होगी, कान होगा, मुंह होगा, ऐसा वर्ण होगा; इत्यादि-इत्यादि।

बौद्धों के मत में चैत्य-धर्म 46 प्रकार का है; परन्तु विज्ञानवादियों ने इसे 50 प्रकार का बताया है। पीछे हम इन 46 चैत्य धर्मों का वर्णन कर चुके हैं।

10 महाभूमिका का सब मनुष्यों के लिए एक-से ही होते हैं, अच्छे-बुरे, और अच्छे व बुरे।

कुशल महाभूमिका धर्म भी 10 प्रकार के हैं। ये सब अच्छे विचारों के साथ रहते हैं।

क्लेश महाभूमिका 6 प्रकार के हैं, जो क्लेश के साथ होते हैं।

दो प्रकार के अकुशल भूमिका धर्म मन की बुरी वृत्तियों के साथ पैदा होते हैं।

8 अनियत भूमिका धर्म ये भी बुरे ही विचारों के साथ पैदा होते हैं।

जो कोई इन सबको ठीक-ठीक जान लेता है, वह सर्वास्तिवादियों के मत में निर्वाण-पद का अधिकारी है।

बौद्धों की इसी सम्प्रदाय एक का मुख्य सिद्धान्त अष्टांग मार्ग है। ये अष्टांग मार्ग ये हैं—

(1) सम्यग् दृष्टि— संसार में दुःख है ? दुःख कैसे उत्पन्न हुआ ? दुःख कैसे बन्द हो ? इन सब बातों को जानना सम्यग्-दृष्टि है।

(2) सम्यग् संकल्प—संसार त्यागो, ईर्ष्या त्यागो, द्वेष त्यागो।

(3) सम्यग् वचन—झूठ बोलना, दूसरे की निन्दा करना, चोरी करना। इनको त्यागना सम्यग् वचन है।

(4) सम्यग् कर्मना—हिंसा करना, बिना दिये ही किसी की वस्तु ले जाना, इन्द्रियों का अनुचित रूप से भोग करना, इनसे बचना ही सम्यग्-कर्मना है।

(5) सम्गयाजीव—अच्छी वृत्ति को करना और बुरी वृत्ति को छोड़ना ही सम्यगाजीव है।

(6) सम्यग् व्यायाम—पाप की वृत्तियों को रोकना, अच्छी वृत्तियों को उदय करना और उनके अनुभव विस्तार करना, यह सम्यग् व्यायाम है।

(7) सम्यग् स्मृति—शरीर को समझना, लोभ-मोह को छोड़ना, शान्त और उत्साह के साथ जीवन को व्यतीत करना, यह सम्यग्-स्मृति धर्म कहलाता है।

(8) सम्यग् समाधि—एक-दूसरी अवस्था के पीछे ध्यान की सारी अवस्थाओं को प्राप्त कर लेना, सम्यग् समाधि है। ध्यान की पहली अवस्था ही राग-द्वेष का घातक है। दूसरी अवस्था में बड़ा आनन्द आता है और यह आनन्द से प्राप्त होती है। तीसरी अस्वथा में सुख की उदासीनता पैदा हो जाती है। चौथे में उदासी और सावधानता दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। यही अष्टांग मार्ग हैं।

माध्यमिक सम्प्रदाय—

बुद्ध की मृत्यु के 700 वर्ष पश्चात् बौद्धों में एक बड़े भारी सिद्ध पुरुष हुए हैं —वे नागार्जुन के नाम से प्रसिद्ध थे। यह दक्षिणी भारत के ही रहने वाले थे। और यह बुद्ध के पश्चात् दूसरी या तीसरी शताब्दी में प्रकट हुए। माध्यमिक सम्प्रदाय के यह सबसे बड़े आचार्य थे।

आचार्य आसुरीघोष जो मसीह की पहली शताब्दी में पैदा हुए, उन्होंने भारत में महायान सम्प्रदाय की नींव डाली और अनेकों ग्रन्थों को संचित करके उनको शुद्ध करवाया। उन्हीं आसुरीघोष के शिष्य श्रीनागार्जुन सिद्ध थे। नागार्जुन ने इस विषय पर एक ग्रंथ लिखा है, जिसे द्वादश वाक्य शास्त्र कहते हैं। यह इस सम्प्रदाय का सबसे मुख्य ग्रंथ है।

प्रतीत्य समुत्पाद बौद्धों का दूसरा बड़ा सिद्धान्त है। नाशवान् वस्तुओं की उत्पत्ति अर्थात् जो वस्तु नष्ट हो जाती है, वह उत्पन्न होती है।

उत्पत्ति मिथ्या है, क्योंकि न तो कोई वस्तु अपने-आप उत्पन्न हो सकती है,

न दोनों के मिलने से, और न किसी हेतु के बिना। यदि कोई वस्तु है तो उसकी उत्पत्ति कैसी ? दूसरी चीज से उत्पन्न होने का अर्थ भी यही है कि जो वस्तु पहले थी उसी की उत्पत्ति हुई। यदि यह कहो कि वस्तु के आश्रय से दूसरी वस्तु होती है तो किसी वस्तु के आश्रय से कोई भी वस्तु हो जानी चाहिए।

कोई चीज न तो अपने-आप पैदा हो सकती है, न दूसरी चीजों से उत्पन्न हो सकती है, और न दोनों के मेल से ही। वह किसी हेतु के बिना भी उत्पन्न नहीं हो सकती। नहीं तो सब चीजें, सब काल में बन जायेगी। इसलिये प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ मिथ्या दृश्यों से है, जोकि हमारी अविद्यायुक्त बुद्धि और इन्द्रियों को प्रतीत होते हैं और जो सत्य नहीं है, और अविद्या के कारण दृश्यमान हैं, यही प्रतीत्य समुत्पाद है।

ज्ञान और संस्कारों के जितने भी रूप हैं, सब झूठे हैं और नष्ट होने वाले हैं। केवल निर्वाण ही एक ऐसा धर्म है जो नष्ट नहीं होता।

परन्तु यहां एक शंका होती है कि यदि दृश्यमान् सब पदार्थ झूठे हैं तो उनकी सत्ता भी नहीं होनी चाहिए। न शुभाशुभ कर्म है, न भवचक्र है। यदि यह बात है तो उनके विषय में विचार विवेचना करना भी व्यर्थ है; परन्तु बौद्ध दर्शनकार कहते हैं—मनुष्यों को जो अन्ध-विश्वास है कि दृश्यमान सब वस्तुएं सत्य हैं, इसी अन्ध-विश्वास को नष्ट करना शून्यवाद का प्रयत्न है। जो बुद्धिमान तत्वदर्शी पुरुष हैं, उन्हें कोई भी वस्तु सत्य या असत्य नहीं मालूम होती। उसके लिए वास्तव में ये चीजें हैं ही नहीं, वह धर्मों के सत्य या असत्य होने के प्रश्न पर कुछ भी विचार नहीं करते। उनके लिए न कर्म है, न भवचक्र ही है। जो वस्तु दिखाई ही नहीं देती तो उसका अस्तित्व कैसे कहा जा सकता है। जो वस्तु नहीं है, वह भूत, भविष्य अथवा वर्तमान नहीं हो सकती। न उसका नाश है, न उत्पत्ति।

अब यहां एक-दूसरी शंका और होती है। कल्पना करो कि अगर कोई वस्तु सत्य ही नहीं है तो शून्यवादियों का यह कहना कि न तो उत्पत्ति है और न विध्वंस है, असत्य है। इसका उत्तर यह है कि शून्यवादियों के मत में तो केवल मौन ही सत्य है। जब वह कभी शास्त्रार्थ करते हैं तो अन्य लोग जिसको हेतु मानते हैं, उन्हें वह भी मान लेते हैं; चूंकि न प्रत्येक वस्तु में सत्यता है, न सत्य का अनुभव है। और इसीलिये जब वह प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त से यह कहेंगे—'इसके होने से वह है' तो न उसमें सत्य है और न सत्य का स्वभाव ही है।

प्रतीत्य समुत्पाद अथवा शून्यवाद का वह अर्थ है कि सब दृश्यवाद पदार्थों में स सार है, न सत्यता ही है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि न वे उत्पन्न होते हैं और न नष्ट होते हैं। न उनका आविर्भाव होता है न लोप। यह केवल भ्रम और प्रपंच है।

माध्यमिक सम्प्रदाय का कहना है कि किसी वस्तु में अपना निजी स्वभाव नहीं

है। गर्मी को भी अग्नि का स्वभाव नहीं कह सकते; क्योंकि अग्नि और ऊष्णता बहुत-सी अवस्थाओं के संयोग का परिणाम है और जिसका होना बहुत-सी अवस्थाओं पर निर्भर है। किसी भी वस्तु का उसका निजी स्वभाव नहीं कहा जा सकता। इसलिए माध्यमिक सम्प्रदाय का कहना है कि स्वभाव का अस्तित्व नहीं है। यदि कोई वस्तु अपना स्वभाव या अस्तित्व नहीं रखती है तो हम उसमें दूसरी वस्तुओं का स्वभाव भी नही मान सकते। यदि कोई पहले तो वस्तुओं को भावात्मक माने और पीछे यह मालूम करे कि वह ऐसी नहीं है तो वह अभाव को मानने वाला हुआ; परन्तु जब हम किसी वस्तु को भावात्मक ही नहीं कहते, तब हम उसे अभावात्मक कैसे कह सकते हैं?

लेकिन सबसे पहले यह बात है कि हम प्रत्येक पदार्थ में गति और प्रवृत्ति तो देखते ही हैं, तो इसका उत्तर यह है कि हम परिवर्तन-क्रिया उन पदार्थों के विषय में नहीं कह सकते, जो क्षणिक अर्थात् अस्थायी वस्तुएं हैं, उनके विषय में हम परिवर्तन-क्रिया को लगा ही नहीं सकते; क्योंकि उनके उत्पन्न होने के दूसरे ही क्षण बाद उनका नाश हो जाता है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं कि जो जारी रहे और जिसके लिए परिवर्तन गति से लगाने की आवश्यकता हो। जो वस्तु नष्ट होती है, वह न कहीं के आती है और न कहीं जाती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि दूसरे क्षण के उत्पन्न होने पर पहले क्षण में परिवर्तन हो गया हो; क्योंकि वह क्षण वही नहीं था, जोकि दूसरा क्षण है।

इस प्रकार की मान्यता आत्मा है और उसका परिवर्तन होता रहता है, यह भी वैसा ही असत्य है। माध्यमिक सम्प्रदाय का यह मत है कि चाहे कितनी भी खोज क्यों न की जाये, पर पंच-स्कन्धों के सिवा कोई और आत्मा ही नहीं है। यदि आत्मा-सम्पूर्ण है तो उसमें न परिवर्तन हो सकता है और न गति ही हो सकती है। नहीं तो यह समझा जायेगा कि एक ही आत्मा उसी क्षण में एक रूप त्यागकर दूसरा रूप लेती है, जो अचिन्तनीय है।

अब यह एक बहुत ही विचारपूर्ण प्रश्न है कि यदि परिवर्तन-क्रिया नहीं हैं और हजारों क्लेशों का चक्र जगत् में नहीं है, तो निर्वाण जिसे कि सब क्लेशों का अन्तिम विध्वंस या नाश कहा जाता है, वह क्या है? अब माध्यमिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार निर्वाण एक—सब वस्तुओं के जोकि दृश्यमान् हैं, उनके स्वभावाभाव का नाम है, वह अनिरुद्ध और अनुत्पन्न पदार्थ है। निर्वाण सब वस्तुओं का लोप है, अर्थात् निर्वाण प्रपंचवृत्ति का केवल एक अवसान है। होना-न-होना प्रपंच से सम्बन्ध रखता है। यहां तक कि दृश्यमान पदार्थ का होना बन्द हो गया है, यह ज्ञान भी नहीं है। बुद्ध भी एक दृश्यमान पदार्थ है। मिथ्या मृग-तृष्णा और स्वप्न है और उसके उपदेश भी सब ऐसे ही हैं।

मिथ्या अहंकार का नाम अविद्या है। खूब विचार करने पर ज्ञात होगा कि

भावात्मक सत्ता का लवलेश भी है। यदि अविद्या न होती तो संस्कार भी न होते, संस्कार न होते, तो विज्ञान भी न होता। इसी प्रकार औरों को भी समझना चाहिए। अविद्या के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह संस्कारों को उत्पन्न कर रही है, और न संस्कारों के सम्बन्ध में ही कह सकते हैं कि वह अविद्या से उत्पन्न हुए हैं। अविद्या होने से संस्कार होते हैं और संस्कार होने से विज्ञान। इसी प्रकार सब दूसरी वस्तुओं को भी समझना चाहिए।

प्रतीत्य समुत्पाद के इस प्रतिपादन को हेतूपनिबन्ध कहते हैं। इसका अर्थ है—पूर्व हेतु के होने पर उत्तर हेतु का होना। इसे प्रत्ययोपनिबन्ध भी कहते हैं।

चार महाभूत, और विज्ञान के समवाय अर्थात् मेल से मनुष्य बनता है। पृथ्वी के कारण शरीर ठोस है, जल से शरीर में चर्बी है, अग्नि से पाचन है, वायु से सांस लेता है, आकाश से शरीर छिद्रावकाश है और विज्ञान से उसमें मानसिक चेतना है। इन सबके संयोग से मनुष्य बना है, परन्तु इनमें से किसी को मालूम नहीं कि हम क्या-क्या कर रहे हैं। इनमें कोई भी वास्तविक तत्व या सत्तावान या आत्मा नहीं है। अविद्या के ही कारण इन्हें सत्तावाला कहते हैं और मोह उत्पन्न हो जाता है। अविद्या से राग-द्वेष, मोह के संस्कार पैदा होते हैं। इनसे विज्ञान और चार स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। ये चारों के महाभूतों के साथ नामरूप उत्पन्न करते हैं, नामरूप से षड़ायतन उत्पन्न होते हैं। इन तीनों के संयोग से स्पर्श होता है, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा आदि होते हैं। ये नदी की धारा के समान प्रवाहित होते रहते हैं; किन्तु इनके अन्त में कोई तत्व या सार नहीं होता। इसीलिए धर्मों को न सत् और असत् कह सकते हैं। न तो सत्ता को सत्य कह सकते हैं और न विनाश को ही सत्य कह सकते हैं। इसी कारण इस सिद्धान्त का नाम माध्यमिक सम्प्रदाय पड़ा है।

भाव-अभाव केवल संवृत्ति सत्य है, ऐसे ही सब धर्म हैं। इसमें परमार्थ सत्य कुछ नहीं है ओर न कोई चीज है। इस सिद्धान्त में भी सदाचार नीति उतनी ही ऊंची है, जितनी कि अन्य भारतीय सिद्धान्तों में।

शून्यता का अर्थ अभाव नहीं है। व्यावहारिक जगत् की निरन्तर परिवर्तनशील अवस्था का नाम शून्यता है, अथवा वह विश्व के आन्तरिक रूप की केवल अनिरुद्धता है।

जगत् की सत्यता निर्दोष दर्पण के समान है। जिसमें प्रत्येक वस्तु वैसी ही दिखाई देती है, जैसीकि यह वास्तव में है; जैसे दर्पण उस वस्तु से जोकि उसमें दिखाई देती है, अलग रहता है—वैसे ही बोधिसत्व उन सबसे जो देखता है, निश्चिन्त नहीं होता है। उसका चित्त क्लेश और राग से सर्वथा मुक्त रहता है। न उसे सुन्दरता देखकर अनुराग होता है, न कुरूपता देखकर द्वेष। वह अत्यन्त शून्यता की सम्पूर्ण अनिरुद्धता की अवस्था में रहता है। शून्यता कई दृष्टियों से देखी जा

सकती है ।

(1) असंस्कृत शून्यता—आन्तरिक अथवा परमार्थ जगत् में इस शून्यता के नियम का प्रयोग होता है ।

(2) संस्कृत शून्यता—इसका प्रयोग संवृत्तिक अथवा व्यवहारिक सत्ता वाले में जगत् होता है ।

भावात्मक दृष्टि से जगत् की परमार्थ अवस्था पर विचार करने पर, नागार्जुन और उनके अनुयायीगण भारतवर्ष, चीन और जापान में अत्यन्त शून्यता के सिद्धान्त पर पहुंचे; क्योंकि जिसकी रुद्धता है वह जगत् की सब वस्तुओं के रूपान्तर विकास और परिवर्तन का विशेष नियम नहीं माना जा सकता ।

सर्वं च युज्यते तस्य, शून्यता यस्य युज्यते ।
सर्वं न युज्यते तस्य, शून्यता यस्य न युज्यते ।।

शून्यता होने से सब-कुछ सम्भव हो सकता है और शून्यता न होने से कुछ भी सम्भव नहीं है ।

संस्कृत शून्यता का अर्थ विशेषता का अभाव है । अथवा असत्ता की दृष्टि से व्यक्तियों का नास्तित्व है ।

कोई भी ऐसा धर्म नहीं है जो प्रतीत्य से उत्पन्न न हुआ हो, और ऐसा कोई भी धर्म नहीं है जोकि निरन्तर परिवर्तनशील न हो अर्थात् शून्य न हो ।

जो कुछ प्रतीत्य से उत्पन्न होता है वह शून्य है; क्योंकि वह कारण नियम से बद्ध है । अतः जिनमें विशेष अथवा स्वभाव नहीं है वह शून्य है । भावात्मक दृष्टि से यह संवृत्तिक वस्तुओं अथवा संस्कृत धर्मों की निरन्तर परिवर्तनशील अवस्था है, अर्थात् वह अवस्था जिसमें भव-विकास की निरन्तर धारा वहती रहती है । अर्थात् कार्य-कारण की सम्बन्ध-शृंखला रहती है ।

माध्यमिक शाखा की शून्यता का रूप संस्कृत और असंस्कृत रूपों से भी आगे बढ़ा हुआ है; क्योंकि ये अत्योन्यापेक्ष शब्द हैं । संस्कृत और असंस्कृत धर्म एक दूसरे की अपेक्षा से हैं । असंस्कृत का अस्तित्व असंस्कृत के अस्तित्व पर निर्भर है, और संस्कृत का पस्तित्व असंस्कृत के अस्तित्व पर । और इस ही पस्पर सापेक्ष सम्बन्ध के कारण सब वस्तुएँ शून्य हैं । इन शब्दों से परमार्थत्व सूचित नहीं होता, यह अवलम्ब सून्यता कहलाती है ।

धर्म को वास्तविक अवस्था निर्वाण के समान अकथनीय, अविचारणीय और जन्म-मरण से रहित है । वह विचारों से और भाषा से परे है, और संपूर्ण और केवल है । यदि मन और शरीर द्वारा सच्चा परिश्रम किया जाय तो हम उस परमार्थ सत्य को ग्रहण कर सकते हैं । इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर पुरुष 'तू', 'मैं', 'यह', 'वह' इत्यादि भेद-भावों को भूल जाता है । धर्मों की वास्तविकता में आत्मा-अनात्मा कुछ नहीं ।

शून्यता का सच्चा अर्थ बताने के लिए इस प्रकार चार पुट बताये गये हैं—

पहला पुट—सत्ता संवृत्त सत्य है, और शून्यता परमार्थ सत्य कहलाता है।

दूसरा पुट—दो सत्यों का पहला पुट संवृत्त सत्य है, न सत्ता और न शून्यता परमार्थ सत्य है।

तीसरा पुट—दो सत्यों का दूसरा पुट संवृत सत्य है, न असत्ता और न अशून्यता परमार्थ सत्य है।

चौथा पुट—दो सत्यों का तीसरा पुट संवृत सत्य है, न सत्ता और न शून्यता परमार्थ सत्य है।

जब तक हम सत्ता या असत्ता भाव या अभाव के पीछे इस प्रकार लगे रहेंगे, तो हमें कभी भी परमार्थ सत्य का अनुभव न होगा और न हमें केवल्यावस्था की ही प्राप्ति होगी। नेति-नेति वाक्यों द्वारा वेदान्त-शास्त्र में भी ब्रह्म-तत्व के समझने की चेष्टा की गई है, पर परमार्थ सत्य क्या है—इसका ठीक उत्तर केवल मौन ही है। जहाँ मन और वचन की गति ही नहीं, वहाँ का वर्णन कैसे हो सकता है।

पूर्वोक्त चारों पुटों में—प्रत्येक पुट के दो सत्य सम्पूर्ण प्रकार के अन्तिम विचारों के खण्डन करने के लिए माध्यमिक-मार्ग बताते हैं।

आचार्य नागार्जुन की एक प्रसिद्ध कारिका जिसमें कि आठ नकार हैं, माध्यमिक-मार्ग का प्रतिपादन करती है और अत्यन्त विचारों को मानने से रोकती है। वह यह हैं—

अनिरोधम् अनुत्पादम्, अनुच्छेदम् अशाश्वतम्।
अनेकार्थम् अनानार्थम्, अनागमम् अनिर्गमम्॥

इसका अर्थ यह है—न नाश, न उत्पत्ति, न विध्वंस, न नित्यता, न एकार्थ, न मानार्थ, न आगमन, न गमन।

माध्यमिकों की दृष्टि से सब प्रकार के अत्यन्त विचार इन आठ नकारों से खण्डित किये ज़ा सकते हैं।

इन नकारों द्वारा प्रतिपादित माध्यमिक-मार्ग निर्वाण लक्ष्य पर पहुँचता है, निर्वाण संपूर्ण अनिरुद्धता की आदर्श अवस्था है। यह आदर्श-अवस्था न स्वर्ग में है और न सुखावती व्यूह में। उसमें शोक नहीं है। आनन्द की प्रचुरता है। इस अवस्था का अनुभव हमें अपने प्रतिदिन के जीवन में करना चाहिए। नागार्जुन के मत में, संसार और निर्माण में कोई भेद नहीं है। पाँचों स्कन्धों से ही शरीर की उत्पत्ति होती है। और पाँचों स्कन्धों की अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति ही संसार है; क्योंकि सब पदार्थ न उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं। इसलिए संसार में और निर्वाण में कोई भेद ही नहीं है। इस दुःखपूर्ण संसार में निर्वाण पाना अति कठिन है, पर असम्भव नहीं। अगर हमारे मन में दुःख और आपत्ति उत्पन्न होती है तो हमें जान लेना चाहिए कि हमारे मन में किसी प्रकार की बुराई

है। इसलिए बुद्ध ने संवृत्तिक सत्य और पारमार्थिक सत्य ये दो बातें बताई हैं। संवृत्तिक सत्य मोक्ष प्राप्त करने के लिए बहुत ही आवश्यक है और पारमार्थिक सत्य के बिना मोक्ष कभी प्राप्त हो ही नहीं सकता। यदि हम संवृत्तिक का आश्रय न लें तो परमार्थ नहीं मिल सकता और बिना परमार्थ के मोक्ष भी नहीं मिल सकता।

तथागत न तो स्कन्ध है और न उससे भिन्न। उसमें स्कन्ध नहीं है और न वह स्कन्धों में। यदि बुद्ध का अस्तित्व स्कन्धों के कारण है तो उसमें अपना स्वभाव नहीं हो सकता। जब उसमें अपना स्वभाव नहीं है, तो उसका परभाव कैसे हो सकता है; किन्तु परभाव में निज स्वभाव कुछ नहीं है, अथवा अपने-आप रहने की शक्ति है। स्वभाव और परभाव सापेक्ष हैं, स्वतन्त्र नहीं। तथागत न शून्य है न अशून्य है, और न एक है न दोनों। उनका नाम केवल संवृत्तिक है। निर्वाण अवस्था में चार प्रकार के शब्द—'स्थाई', 'अस्थाई', 'दोनों' 'एक भी नहीं' नहीं रह सकते। तथागत स्वभाव से अनिरुद्ध है। मृत्यु के बाद बुद्ध का अस्तित्व है कि नहीं, इस बात का विचार नहीं हो सकता।

6

बौद्धों के धर्म-साम्राज्य का विस्तार

भारत में बौद्ध-युग भी एक अमर युग था। ईसवी सदी के 600 वर्ष पूर्व, जब समस्त भारत में, धार्मिक आडम्बर और धार्मिक पाप अपनी सम्पूर्ण कलाओं पर था; जिस समय धर्म के नाम पर असंख्य मूक-पशुओं के रक्त से, कर्म-काण्डी ब्राह्मणों के हाथ लाल रहते थे; जिस समय कि भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक अभागे पशुओं की हाय भर रही थी, उस समय बुद्ध भारत में अवतीर्ण हुए! शोक-सन्ताप से भरी पृथ्वी पर सबसे प्रथम उन्होंने दया और शान्ति की आवाज उठाई, दुःख और उसके कारणों का निरूपण किया, और उत्कट त्याग और संन्यास के मार्गों का उद्घाटन किया। मनुष्य-चरित्रों में विशुद्धता, परोपकार व्रत, निर्लोभ भाव, मुक्ति-भावना प्राप्त हुई। अग्नि की भाँति यह धर्म समस्त भारत में फैल गया। असंख्य राजा और साहूकार इस धर्म के झण्डे के नीचे आये। उन्होंने हजारों विहार बनवाये। इन, विहारों में हजारों छात्र और अध्यापक आजीवन अविवाहित रहकर, स्वार्थपरता छोड़कर, विहार बनाने वालों के व्यय से जीविका चलाकर, दिन-रात ज्ञान तथा धर्म के अनुशीलन में मग्न रहते थे। पढ़ने और पढ़ाने के अतिरिक्त उनका और कोई कार्य न था। यहाँ पर बौद्ध-शास्त्र, न्याय-दर्शन, वेद, व्याकरण, चिकित्सा आदि प्रयोजनीय विषय पढ़ाये जाते थे। समस्त भारत एकाएक ज्ञानोदय के आलोक से आलोकित हो उठा। यह ज्ञान अति शीघ्रता से सारी पृथ्वी पर फैला। तिब्बत, चीन और कोरिया के सम्राट् बारंबार दूत भेजकर बड़ी आराधनाओं से भारत के बौद्ध महापण्डितों को अपने देश में ज्ञान विस्तार के लिए बुलाने लगे। तिब्बत, श्याम, चीन, तातार और अनाम इत्यादि दूर देशों से दल-के-दल लोग भक्ति, श्रद्धा को हृदयों में भरकर, भारत में आते, बौद्ध-साधुओं के चरणों में बैठते और संस्कृत अध्ययन करते तथा ढेर-के-ढेर ग्रन्थ साथ में स्वदेश ले जाते। ये ही ग्रन्थ आज पुरातत्त्व के विद्वानों को तिब्बत, चीन, ब्रह्मा, जापान के देशों में मिले हैं। आज जिस प्रकार पृथ्वी यूरोप के ज्ञान से आलोकित हुई है, उसी प्रकार एक बार बौद्ध-ज्ञान से पृथ्वी आभारी हुई थी।

सहस्रों भारतीय बौद्ध-भिक्षु अपनी इच्छा से, स्वदेश त्याग कर दिग्दिगन्त में भारत का गौरव विस्तार करने के लिए जाते थे। ये लोग हिंसक जन्तुओं से भरे हुए वनों में, और मनुष्यभक्षी मनुष्यों की बस्ती से दुर्गम वन, नदी, गार, पर्वत और समुद्र सब को चीरते हुए उत्तर की ओर नेपाल, कश्मीर, तिब्बत, बलख, बुखारा, मंगोलिया, चीन, कोरिया और जापान; पश्चिम में काबुल, सीरिया, पैलेस्टाइन, अफ्रिका, मिस्र और साइरिनी एवं यूरोप के सेसीडन तथा एपरिस प्रदेश में; पूर्व में—ब्रह्मा, कोचीन, चाइना, जावा, सुमात्रा और फारमोसा द्वीप-पुंज और दक्षिण में लंका तक जाते थे। वहाँ जन्म-भर रहते और ज्ञन तथा धर्म का प्रचार करते थे। ईसा की चौथी शताब्दी में—फाहियान ने भारत आते समय साइबेरिया के दक्षिणी तातार में, कास्पियन समुद्र के पश्चिम यूरोप खण्ड में, अफगानिस्तान में बौद्ध-धर्म का बड़ा भारी जोर देखा था। यूरोप के उत्तर-प्रान्त और लैपलैंड में में आज तक बौद्ध-धर्म प्रचलित है। एक बार समस्त मानव-जाति की एक-तिहाई इस धर्म को स्वीकार कर चुकी थी।

ईशु मसीह के जन्म से पहले भारत के सम्राट् अशोक ने पैलेस्टाइन में बौद्ध-धर्म-प्रचारकों को भेजा था। मसीह के समय में भी, बौद्ध-साधु वहाँ उपस्थित थे। मसीह के उपदेश और जीवन पर बौद्ध-धर्म की इतनी गहरी छाप पड़ने का कारण ही यह था। बाइबिल में, बौद्धसिद्धान्तों का मिलना, रोमन कैथोलिक लोगों का पाजक सम्प्रदाय धर्मानुष्ठान, रीति-नीति सभी बौद्ध-धर्म का अनुकरण-मात्र है। जर्मन पण्डित शोपनहार ने यह बात स्वीकार की है। एक रूसी ग्रंथकार को तिब्बत में एक ग्रंथ मिला था। उससे पता लगा कि मसीह ने स्वयं भारत और तिब्बत में रहकर बौद्ध-धर्म का अनुशीलन किया था। इसी प्रकार मुहम्मद का धर्ममन्दिर में उपासना करना, पाँच बार उपासना करना और उपासना से प्रथम उच्च स्वर से लोगों को आवाहन करना—ये सब बौद्धों की छाया है।

सम्राट् अशोक ने नालन्दा का विहार निर्माण कराया था। वहाँ की अट्टालिकाएँ गगन-भेदिनी थीं। एक महल 1600 फीट लम्बा और 400 फीट चौड़ा था। उनमें छात्र और अध्यापक रहते थे। पटना के पास उसका ध्वंसावशेष है। असंख्य बौद्ध-मन्दिर के खण्डहर वहाँ पड़े हैं। वहाँ पर कई-एक बड़े-बड़े जलाशय थे, जिनमें से दो-एक तो कई-एक मील लम्बे थे। यहाँ 10000 बौद्ध-अध्यापक और छात्र राज्य की ओर से भोजन पाकर, दिन-रात अध्ययन-अध्यापन करते थे। भाग्यवान् चीनी यात्री हुएनसांग ने इस यशस्वी नालन्दा विहार को देखा था। वह लिखता है—"नालन्दा के बौद्ध-तपस्वी महापण्डित हैं। समग्र भारतवर्ष उनका सम्मान करता है और उनका आदेश सिर झुकाकर स्वीकार करता है। विहारों को बनाकर इस बड़े सम्राट् ने केवल मनुष्यों को ही ज्ञान वितरण नहीं किया था, प्रत्युत अनेक चिकित्सालय भी पशुओं और मनुष्यों के

लिए बनवाये थे, जहाँ बिना मूल्य औषधि वितरण होती थी। हजारों मील की सड़के बनवाकर, उन पर वृक्ष लगवाये थे। कुएँ खुदवाये थे और सराएँ बनवाई थीं। उस अमर सम्राट् के धर्मस्तम्भ आज भी ऊँचा मस्तक किये खड़े हैं। इन पर लिखा है—"अविराम न्यायपूर्वक विचार करने से बढ़कर सर्व-साधारण के मंगल का मूल और कुछ नहीं है। उसी विचार को प्रजा-पुंज में वितरण करना मेरा लक्ष्य है।" दूसरे पर लिखा है—"मेरी एकान्त वासना है कि मनुष्य चाहे किसी मत का अनुयायी हो, चरित्र की उन्नति का साधन करना चाहिए, सभी को एक दूसरे की श्रद्धा करनी चाहिए, मतपार्थक्य से हिंसा, विद्वेष न होनी चाहिए।"

इस अशोक का नाम यूरोप की बोलगा नदी से जापान तक, और साइबेरिया से लंका तक फैला हुआ था। पण्डित कोपेन के मत से भारत का अशोक यूरोप के सीजर और शार्लमन से बहुत अधिक प्रतापी और प्रसिद्ध है।

ईसा की सातवीं शताब्दी में बौद्ध महाराज हर्षवर्धन और शिलादित्य ने कान्यकुंज के सिंहासन से समस्त आर्यावर्त का शासन किया था। ये पाँचवें वर्ष बौद्धों का धर्म-उत्सव करते थे, और अत्यन्त दान देते थे। अगले अध्यायों में हम विस्तार से बुद्ध और उनके धर्म का परिचय देंगे।

सम्राट् अशोक के समय में, बौद्ध-श्रवणों के जत्थे-के-जत्थे सीरिया, श्याम, मिस्र, मकदूनिया और एपीरस तक पहुँचे थे, और भगवान् बुद्ध के महत्व को स्थापित किया था। उस समय इन देशों में यूनान का आधिपत्य था; पर इन साधुओं का प्रभाव इतना प्रबल था कि कुशान-सम्राट् कनिष्क भी बौद्ध हो गया। यह कोई साधारण राजा न था, राजराजेश्वर था और उसका प्रभाव चीन तक था। इन धर्म-भिक्षुओं और बौद्ध-धर्म के साथ-साथ भारतीय चित्रकला, मूर्ति-कला और संगीत भी मध्य एशिया की राह चीन जापान तक पहुँचे।

महान् बुद्ध ने अपने जीवन-काल ही में अपने धर्म के विस्तार का काम आरम्भ कर दिया था; परन्तु वह वास्तव में बिहार और काशी के आस-पास ही जीवन के अन्त तक घूमते रहे।

विदेश में बौद्ध-धर्म का प्रचार सबसे प्रथम सम्राट् अशोक ने किया। उसने गान्धार और काश्मीर में, मिस्र में, राजपूताने में, पश्चिमी पंजाब में, वैक्टोरिया और यूनान में, मध्य-हिमालय के प्रान्तों में, वर्मा और लंका में, धार्मिक उपदेशकों को भेजा। इसकी आज्ञाओं का पालन चोल, पांड्य, केरल, लंका और सीरिया के यूनानी राजा एन्टी ओकस के राज्यों में किया गया। अशोक के धर्म लेखों से पता चलता है कि उसने यूनानी राज्यों में अर्थात् ईजिप्ट, मेसेडेन, एपेरस और सिरिया में भी दूत भेजे थे।

जिस समय प्रतापी अशोक भारत पर एकछत्र राज्य कर रहा था, उस समय लंका पर तिष्य नामक राजा का राज्य था। उसने अशोक के धर्म-भाव की कीर्ति

को सुनकर मित्रता का सन्देश भेजा और अशोक ने राजा से मैत्री सम्वाद पाकर अपने पुत्र महेन्द्र और कन्या संघमित्रा को लंका भेजा, और इस महाराज कुमार ने वहाँ जाकर प्रथम राजा को और फिर समस्त लंका को बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया।

लंका में, अब तक महाराज कुमार महेन्द्र के स्मृतिचिह्न हैं। अनुराधापुर के उजड़े हुए, और प्राचीन नगर से आठ मील की दूरी पर महिन्तल का पहाड़ है, जहाँ पर वहाँ के राजा ने महेन्द्र के लिए एक मठ बनवाया था। आज भी वहाँ लोग पवित्र भाव से जाते हैं और चट्टानों और गुफाओं को, जिसमें कि वह त्यागी राजकुमार जीवन-भर रहा और जो दो हजार वर्ष बीत जाने पर भी वैसी ही प्रभावशाली हैं, देखकर श्रद्धा से सिर झुकाते हैं।

महेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् द्रविड़ लोगों ने लंका पर दो बार आक्रमण करके उसको विजय किया। लेकिन ईसा के लगभग 88 वर्ष पहले उन्हें वहाँ से निकाल दिया गया। और लगभग इसी समय के अन्दर त्रिपिटक का साहित्य जो अब तक केवल मौखिक और कंठाग्र था, लिखा गया। इसी काल में बुद्धघोष जो बौद्ध-धर्म का बड़ा भारी विद्वान् था, और जिसे बौद्धों का सायनाचार्य कहना चाहिए और जो मगध का रहने वाला ब्राह्मण था, लंका गया और वहाँ जाकर उसने वहाँ की भाषा में महान् ग्रंथ लिखे। लगभग 450 ई० वह बर्मा गया और वहाँ उसने बौद्ध-धर्म का खूब प्रचार और विस्तार किया।

श्याम में 638 ई० में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। जावा में भी लगभग इसी समय उपदेशक गए और जावा से यह धर्म सुमात्रा गया। ये सब देश हीनयान से सम्बन्ध रखते थे।

इस समय भारतवर्ष के सुदूरपूर्व में जो द्वीप फैले हुए हैं उनमें अब भी बहुत से प्राचीन हिन्दू तथा बौद्ध मंदिरों, मठों के अवशेष पाए जाते हैं। चीन, जापान, बाली, माक्सिको, तिब्बत, कोरिया, जावा, सुमात्रा के प्रदेशों में हिन्दू-संस्कृति की बहुत से लक्षण अब भी देखने को मिलते हैं। इन तमाम प्रदेशों में बौद्ध-धर्म बड़ तेजी के साथ फैला। एक समय था जब चीन, जापान, जावा, सुमात्रा आदि टापुओं माक्सिको, बाली कोरिया, तिब्बत आदि देशों में बौद्ध-धर्म विस्तार पा गया था।

मसीह की तीसरी शताब्दी में बुद्ध का एक दाँत भारतवर्ष से लंका ले जाया गया, और उसकी राजधानी केण्डी में बड़े समारोह के साथ इसकी स्थापना स्तूप में हुई, जिसे देखने भिन्न-भिन्न स्थानों से सैकड़ों यात्री आज भी जाते हैं। जब बारहवीं शताब्दी में पराक्रम बाहुराजा लंका की गद्दी पर बैठा, तो एक बार उसने बौद्ध-धर्म का काम फिर से अपने हाथ में बड़े जोर-शोर से लिया, लेकिन ईसा के बाद सोलहवीं शताब्दी में पोर्चुगीज, अंग्रेज आदि वहां आने लगे, तब से वहां

बौद्ध-धर्म का ह्रास होने लगा, और वह आज तक जारी है। सन् 1918 में जो लंका की मनुष्य-गणना हुई थी, उसमें कुल 9899 मनुष्य बौद्ध थे। और इसके बाद सन् 1919 में सात हजार ही रह गए। इतना होने पर भी लंका में बौद्ध-धर्म की काफी चर्चा है और बौद्ध-धर्म के प्रति काफी मान है।

हमने बतलाया है कि बर्मा में बुद्धघोष ने बौद्ध-धर्म का काफी प्रचार किया था। अब भी तमाम बर्मा बौद्ध-धर्म को मानने वाला है। बुद्धघोष के बनाये हुए ग्रन्थ और भाष्य बर्मा में बहुत माननीय दृष्टि से देखे जाते हैं। वहां के भिक्षु अब भी सदाचारी और विद्वान् होते हैं। श्याम, कम्बोडिया आदि देश जो पूर्वी प्रदेशों में हैं, वहां अब भी बौद्ध-धर्म का काफी प्रचार है। प्राचीन काल में वहां के निवासी जंगली थे, लेकिन जब भारतवर्ष के लोग वहां व्यापार आदि के लिए जाने लगे तो उनमें भी सभ्यता आने लगी। इसके बाद बर्मा के बौद्धों ने वहां जाकर बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। वहां बौद्ध-धर्म का प्रचार ईसा की सातवीं शताब्दी के बाद हुआ। कम्बोडिया में जो शिलालेख मिले हैं वह आठवीं और नौवीं शताब्दी के बाद के हैं। श्याम एक ऐसा देश है कि जहां बौद्ध-धर्म का काफी प्रचार है। श्याम का राजा भी बौद्ध-धर्म में दीक्षित है। वह हर साल बौद्ध मन्दिरों में जाता और बौद्ध-भिक्षुओं के दर्शन करता है। (आज के हिन्द चीन (Indo-China) का एक देश)

महायान सम्प्रदाय अर्थात् उत्तरी बौद्ध-धर्म ई० सन् के प्रारम्भ में उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष का मुख्य धर्म था। काश्मीर का राजा पुष्यमित्र जो ईसा के पूर्ण दूसरी शताब्दी में था, उसने बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया और इसके पुत्र अग्निमित्र ने जब गंगा के तट पर यूनानियों से युद्ध किया और इसमें यूनानियों ने विजय प्राप्त की, तो ईसा के लगभग 150 वर्ष पहले बौद्ध-धर्म गंगा नदी तक फैल गया। इस समय के प्रसिद्ध बौद्ध-भिक्षु नागसेन ने यूनानी राजा के साथ धर्म-सम्बन्धी वाद-विवाद किया था, जिसका वर्णन एक पाली-ग्रन्थ में सुरक्षित है। इसके बाद मसीह की पहली शताब्दी में युची लोगों ने कनिष्क की अध्यक्षता में काश्मीर को विजय किया और शीघ्र ही इसका राज्य पूर्व में आगरे तक फैल गया। यह एक बड़ा उत्साही बौद्ध राजा प्रकट हुआ। इसने 500 बौद्ध-भिक्षुओं को एकत्रित करके काश्मीर में एक बड़ी सभा की और इस सभा में बहुत से वाद-विवाद हुए, लेकिन इस सभा में अशोक की पटना वाली सभा की तरह न तो पाठ शुद्ध किये गए और न पुस्तकों को ही निश्चित किया गया। बल्कि इस सभा में केवल तीन भाष्यों का निर्माण किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिम का बौद्ध-धर्म असली बौद्ध-धर्म से पीछे हटता गया। अश्वघोष उत्तरी बौद्धों में एक बड़ा भारी विद्वान् हुआ है। उसने बुद्ध का चरित्र लिखा है। यह कनिष्क की राज-सभा में रहता था। यह वह समय था कि जब ईसाई पादरी सेण्ट टॉमस भारतवर्ष में आया था

और मारा गया था ।

ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में कनिष्क द्वारा दो बौद्ध पुस्तकें काश्मीर से चीन के सम्राट के पास भेजी गई थीं । इसके पश्चात् दूसरे चीन सम्राट ने बहुत से बौद्ध-ग्रन्थ भारतवर्ष से मंगाये और इसके बाद वहां बौद्ध-धर्म का खूब प्रचार हुआ, और चौथी शताब्दी तक वह चीन का प्रधान धर्म बन गया ।

चीन से सन् 373 ई० में बौद्ध-धर्म कोरिया में गया और वहां से 552 ई० में जापान में । कोनान, चीन, फारमूसा, मंगोलिया तथा अन्य स्थानों में—चौथी और पांचवीं शताब्दी में चीन से बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ । काबुल से यह धर्म यारकन्द, बलख-बुखारा तथा अन्य स्थानों में पहुंचा ।

नेपाल का राजा छठी शताब्दी में बौद्ध हो गया, और तिब्बत के प्रथम बौद्ध राजा ने भारतवर्ष से सन् 632 ई० में बौद्ध-धर्म ग्रंथ मंगवाए । हम नहीं कह सकते कि इसके पहले तिब्बत में कौन-सा धर्म था । सबसे पहले संघपा नामक राजा ने बौद्ध-धर्म ग्रहण किया और इसके बाद प्रजा ने । इस राजा के दो रानियां थीं; एक चीन की और एक नेपाल की । दोनों ही बौद्ध थीं, इसलिये इसे बौद्ध बनने में कोई कठिनाई नहीं पड़ी । लेकिन इस समय तक भी तिब्बत की प्रजा जंगली थी । अतः सर्वसाधारण में बौद्ध-धर्म का प्रचार धीरे-धीरे हुआ । इसके पश्चात् संघपा राजा ने बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए भारतवर्ष से कुछ भिक्षु और प्रचारक बुलवाए, लेकिन इस समय भारतवर्ष में बौद्ध-धर्म का ह्रास हो गया था । इसलिए तिब्बत में कोई अच्छा विद्वान भिक्षु नहीं जा सका । अन्त में पद्मसंभव नामक एक बौद्ध भिक्षु तिब्बत में पहुंचा । लेकिन वह वज्रयान सम्प्रदाय का था । इसलिए तिब्बत में बौद्ध-धर्म के प्रचार के साथ ही साथ तान्त्रिक ग्रन्थों का भी प्रचार होने लग गया । इसके पश्चात् ही तिब्बत के बौद्ध भिक्षु लामा कहलाने लगे और वह राजाओं से भी बड़े माने जाने लगे । आज भी लामाओं का पद राजाओं से भी बड़ा माना जाता है । वहां के निवासियों के नियमों और रीति-रिवाजों के कारण तिब्बत का बौद्ध-धर्म एक बिलकुल अनोखी चीज बन गई ।

चीन में महाराजा मिंगनी ने सबसे प्रथम बौद्ध-धर्म ग्रहण किया । यह ईसा मसीह की पहली शताब्दी में चीन पर राज्य करता था । एक रात को इस राजा ने यह स्वप्न देखा—एक देवता जिसका शरीर 12 फीट ऊँचा था और जिसके शरीर से सोने के समान चमक निकल रही थी, और जिसके मुख से सूर्य के समान प्रकाश फैल रहा था, उसकी तरफ आया और चला गया । प्रातःकाल उठकर उसने अपने मन्त्रियों से जो इस प्रश्न का अर्थ पूछा तो मन्त्रियों ने कहा—भारत में एक ऐसे देव प्रकट हुए हैं । आप उनके दर्शन कीजिए, उन्होंने आपको स्वप्न में दर्शन दिये हैं । यह सुनकर राजा ने अठारह विद्वानों को जो चीन के प्रसिद्ध विद्वान थे, चुनकर एक प्रतिनिधि मण्डल बनाया और इन्हें बौद्ध-धर्म

का अध्ययन करने के लिए भारतवर्ष भेजा। ये 164 ई० में आए और बारह वर्ष तक यहां बौद्ध-धर्म का अध्ययन करते रहे। यहां से लौटने के समय ये लोग बुद्ध की मूर्ति, कुछ ग्रंथ और दो भारतीय पंडितों को चीन ले गए। जो दो भारतीय पंडित चीन गए, उनके नाम काश्यप मातंग और धर्मरक्षा था। काश्यप मातंग से राजा ने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली और अपनी राजधानी के पश्चिम में एक विशाल मन्दिर बनवाकर उसमें बुद्ध की मूर्ति को स्थापित किया। इसके पश्चात् तो बहुत से विद्वानों ने वहां जाकर बौद्ध-धर्म का प्रचार बड़े जोर-शोर से किया और वहां की भाषा सीखकर सैकड़ों संस्कृत और पाली ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया और इस प्रकार तमाम चीन में बौद्ध-धर्म विस्तार को पा गया। यद्यपि आज वहां बौद्ध-धर्म बहुत विकृत अवस्था में है, फिर भी वहां बौद्ध-धर्म के बहुत से मठ हैं और प्रजा उनके पूजन-अर्चन में लगी ही रहती है।

कोरिया में एक सन्दो नामक चीनी यात्री सन् 372 में कुछ बौद्ध-ग्रंथ और मूर्तियां लेकर पहुंचा।

इसे चीन के सम्राट् ने भेजा था और वह सीधा दरबार में गया। उसकी बातों का दरबार पर अच्छा प्रभाव पड़ा और वहां के राजा ने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया और बहुत शीघ्र ही अपनी राजधानी में दो बौद्ध-विहार बनवाये। इसके पश्चात् कोरिया के राजा ने चीन देश से अच्छे विद्वान बौद्ध-उपदेशकों को बुलाया। इन उपदेशकों में मारानन्द नाम का एक उपदेशक बहुत विद्वान् था। इस प्रकार 50 वर्ष के अन्दर सारे कोरिया में बौद्ध-धर्म का प्रचार हो गया। कुछ समय बाद एक प्रभावशाली बौद्ध-भिक्षु स्वयं कोरिया के राज-सिंहासन पर बैठा, इससे बौद्ध-धर्म का खूब प्रचार हुआ। इस भिक्षु राजा ने यह नियम बना दिया था कि जिस किसी के तीन पुत्र हों, तो उनमें से एक को अवश्य बौद्ध-भिक्षु बना देवे।

बौद्ध-धर्म के प्रचार के साथ-ही-साथ कोरिया में सदाचार, कला-कौशल और विद्या का भी खूब प्रचार हुआ। उस समय कोरिया की कोई निजी लिपी न थी, इसलिए चीनी लिपि में ही कुछ फेर-फार करके एक स्वतन्त्र कोरियाई लिपि बनाई गई।

चौहदवीं शताब्दी के अन्त में, कोरिया में एक बहुत भीषण राज्य-क्रांति हुई, जिसमें वहां की राजसत्ता चीन के मिंग राज वंश में चली गई। यह राजा कान्फ्युशियन-मत को मानने वाला था। अतः उसने कोरिया में अपने मत का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। इसलिए कोरिया में बुद्ध-धर्म का ह्रास होने लगा।

आजकल कोरिया में बुद्ध-धर्म की बड़ी बुरी दशा है। वैसे तो कोरिया आज भारतवर्ष की तरह स्वतन्त्र है। वहां कभी दरिद्रता और आलस्य का साम्राज्य था अब कोरिया के दो भाग हैं उत्तरी तथा दक्षिणी कोरिया। वहां अब भी

बौद्ध धर्म को मानने वाले काफी संख्या में है। दक्षिण कोरिया विशेष उन्नति तथा विकास कर रहा है।

जापान में बौद्ध-धर्म का प्रचार कोरिया से हुआ। जापान का पुराना धर्म सिंटो-धर्म है। छठी शताब्दि में, कोरिया के राजा ने जापान के राजा के पास अपना एक दूत भेजकर बौद्ध-धर्म की बड़ी भारी प्रशंसा की और उसके साथ ही कुछ बौद्ध-मूर्तियां और बौद्ध-ग्रन्थ भी भेजे। इस समय तक जापान को बौद्ध-धर्म का पता नहीं था। इस समय जो भी चेष्टायें जापान में बौद्ध-धर्म के प्रचार में की गयीं; उनका बड़ा भारी विरोध हुआ; क्योंकि वहां के प्राचीन सिंटो-धर्म के मानने वाले बड़े कट्टर थे।

जापान के राजा शोटो कुदेशी ने बौद्ध-धर्म के प्रचार में बड़ी भारी सहायता की, यहां तक कि उसकी गणना बौद्ध-भिक्षुओं में होने लगी। बौद्ध-भिक्षुओं ने एक बड़ी भारी चतुराई से काक लिया। उन्होंने सिंटो के देवताओं को भी बौद्ध-धर्म में सम्मिलित कर लिया और उसकी पूजा करने लगे। इससे सिंटो-धर्म वालों के विरोध एकदम कम हो गये और वे सन्तुष्ट हो गये। यह युक्ति कोबोदेशी नामक एक बौद्ध-भिक्षु ने निकाली थी, इसीलिए वहां के लोग आज भी उसे देवता के समान पूजते हैं। इस तरह जापान के रिवाज और सभ्यता पर बौद्ध-धर्म का प्रभाव स्थायी हो गया। 19 वीं शताब्दि तक राजाओं की तरफ से बौद्ध-धर्म को पुरस्कृत किया जाता था, पर इसी समय जापान में एक बड़ी भारी राज्य क्रान्ति हुई, जिससे राजा को बौद्ध-धर्म के प्रति उदासीन रहना पड़ा। पश्चिम सभ्यता ने धर्म पर राजनीति का प्रभाव बढ़ा दिया, परन्तु थोड़े ही वर्षों बाद, उन्हें यह मालूम हो गया कि पाश्चात्यसभ्यता का अन्ध अनुकरण करना अपने-आपको एक घात में डालना है, तो उन्होंने फिर बौद्ध-धर्म का प्रचार करना शुरू किया और उसके साथ-ही-साथ अपने सिन्टो-धर्म तथा कन्फ्युशियम का भी प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया।

चीन, जापान, कोरिया, लंका, श्याम, सीलोन; तिब्बत इत्यादि देशों में ही बौद्ध-धर्म का प्रचार खतम नहीं हो गया; परन्तु भारतवर्ष के बाहर दूर देशों में हजारों कोस दूर—जावा, अमेरिका-इत्यादि देशों में भी अपने धर्म का प्रचार किया।

जावा में बौद्ध-धर्म का प्रचार कब और कैसे हुआ ! इसका कोई पूरा-पूरा वृत्तान्त नहीं मिलता। परन्तु वहां पर बौद्ध-मूर्तियों से मिलती-जुलती मूर्तियां मिली हैं, इससे निश्चय होता है कि वहां बौद्ध-उपदेशक अवश्य पहुंचे हैं। इसी प्रकार बाली के अन्दर भी बौद्ध संस्कृति के अनेकों चिह्न मिले हैं।

अमेरिका में भी बौद्ध-धर्म का प्रवेश हुआ था। प्राचीन इतिहास को देखने से मालूम होता है कि पांच बौद्ध-भिक्षु रूस की उत्तरी सीमा पर कामश्चारका

प्रायद्वीप से पैसिफिस-महासागर को पार करके एलास्का की ओर से अमेरिका पहुंचे थे, और दक्षिण की ओर से मेक्सिको गये थे। मेक्सिको के मूल निवासियों का प्राचीन इतिहास, आचार-विचार, धर्म अदि बौद्ध-धर्म से सम्बन्ध रखते हैं।

चीन का प्राचीन ग्रन्थों में 'फुसम' नामक एक प्राच्च देश का उल्लेख है। कहते हैं—यह नाम उस देश के एक वृक्ष के नाम पर पड़ा है। मेक्सिको में 'आगुये' अथवा 'मांगुये' नामक वृक्ष हैं, उसमें और फुसम के वृक्ष में समानता दिखाई देती है। चीनी भाषा में हुएनसांग ने जो यात्रा-वर्णन लिखा है, उसमें अपनी आंखों देखा वर्णन लिखा है—5 वीं शताब्दि के अन्दर वह फुसम से किंचेन गया था। वह समय राज्य-क्रान्ति का था, इसलिए वह राजा से नहीं मिला, पर जब राज्य-क्रान्ति शान्त हुई, तब उसने वहां के नवीन राजा से भेंट की और फुसम से जो विचित्र वस्तुएं वह अपने साथ लाया था, वह सब राजा को अर्पण कीं। इन विचित्र वस्तुओं में एक चमत्कारिक वस्त्र भी था, जो कि मेक्सिको देश के आगुये नामक वृक्ष से तैयार किया जाता था। वह कपड़ा बिलकुल रेशम की तरह मुलायम था और इतना बारीक होते हुए भी, इतना मजबूत था कि यदि उसमें कोई वज़नी चीज डालकर लटका दिया जाता, तो भी वह नहीं फटता था। एक और विचित्र चीज जो उसने राजा को भेंट की थी, वह एक शीशा था। ऐसे शीशे मेक्सिको के सीमाप्रान्त वाले लोगों के पास भी पाये जाते हैं। राजा की आज्ञा से हुएनसांग ने यात्रा का वर्णन लिखा है। उसने बौद्ध-धर्म के सम्बन्ध में यों लिखा है—

पहले फुसम के लोगों को बौद्ध-धर्म के विषय में बिलकुल जानकारी नहीं थी; परन्तु 5 वीं शताब्दि में सुंग-वंशीय राजा थामिन के शासन-काल में 5 बौद्ध-भिक्षु काबुल से फुसम गये और वहां उन्होंने बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। वहां के बहुत-से लोगों ने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण की; तभी से वहां के निवासियों के आचार-व्यवहार से सुधार हुआ। खुसुम वृक्ष के गुण, उसकी छाल से तन्तु निकालने का तरीका और तन्तुओं से वस्त्र बनाने का तरीका हुएनसांग ने अपनी यात्रा के वर्णन में लिखा है। वहां के फलों का जो उसने वर्णन किया है, वह सब मेक्सिको के फलों से मिलते-जुलते हैं और सब वहां होते हैं। उसने यह भी बतलाया है कि वहां तांबा मिलता है, पर लोहा नहीं। तथा सोने-चांदी का व्यवहार नहीं होता। वहां के निवासियों के आचार-विचार, जाति, धर्म, सेना हथियार आदि के विषय में जो उसने लिखा है, वह सब अमेरिका के मूल निवासियों तथा मेक्ति को की सीमा पर रहने वाले लोगों से मिलता-जुलता है।

मेक्सिको के लोगों में एक दन्तकथा ऐसी प्रचलित है—एक श्वेतश्याम परदेशी वहां गया था। वह उपदेश देता था—"पाप से बचो, न्याय का पालन करो।" उनका यह उपदेश वहां के लोगों को अच्छा नहीं लगा और वह लोग

उस उपदेशक को मारने दौड़े। इस पर वह बेचारा प्राण बचाकर भाग गया। कहां भागा, इसका कोई पता नहीं; पर उसके पैरों के चिह्न एक पहाड़ पर दिखाई दिये। उसकी स्मृति में उसकी एक पाषाणमूर्ति म्यागडालिना नामक एक ग्राम में स्थापित की गई, उसका नाम जई-सी-पैको-का था। दूसरा एक और परदेशी भिक्षु अपने कुछ साथियों के साथ पैसिफिक-महासागर के किनारे पर आकर उतरा था। यही उपर्युक्त पांच बौद्ध-भिक्षु होंगे। इन्होंने जिन बातों का उपदेश दिया था, वह बौद्ध-धर्म से मिलती-जुलती थीं।

स्पेनिश लोगों ने जिस समय अमेरिका को जीता था, उस समय के लोगों के जो रीति-रिवाज, धार्मिक-विचार, संवत्सर-प्रणाली, शिल्पकला आदि जो बातें थीं, वह सब एशियाई धर्म तथा सभ्यता से मिलती-जुलती थीं।

गौतम और शाक्य ये दो नाम बुद्ध के थे। मेक्सिको में पुरोहित को ग्वातेमोत-निज कहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह गौतम शब्द का अपभ्रंश हैं। और भी अनेकों नाम हैं, जो कि बुद्ध के नामों से मिलते-जुलते हैं; जैसे—जाकाटेकास, शाकारापेक, जाकाटलाम, शाकापुलाश इत्यादि। ये शाक्य-शब्द से मिलते हैं।

पालेस्के नामक स्थान पर एक प्राचीन बुद्ध-मूर्ति भी है, जिसको कि वहां के निवासी शाकामोल कहते हैं, जिसका कि अर्थ है शाक्य मुनि।

कोलोराडो नदी के प्रवाह में एक टापू है, वहां एक पुरोहित रहता था, उसका नाम गोत्तुशाका अर्थात् गौतम शाक्य था।

ध्यानस्थ बुद्ध की मूर्तियां, हाथी की मूर्तियों के समान अमेरिका में पाई जाती हैं, जिससे इसमें सन्देह नहीं रहता कि अमेरिका में बौद्ध-धर्म पहुंचा था और उसका वहां प्रचार हुआ था।

यूरोप के कई विद्वानों ने, जिनमें प्रोफेसर फायरमेन जोकि एक प्रसिद्ध विद्वान् हैं, यह साबित कर दिया है कि अब से चौदह सौ वर्ष पूर्व बौद्ध-भिक्षु अमेरिका में पहुंचे थे और वहां बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था।

आठवीं शताब्दि से प्रथम अफगानिस्तान में बौद्धों का पूर्ण प्राबल्य था। वहां की समस्त जनता आर्य थी। बाह्लीक (बखल) उद्यान (चमक), गांधार (कंदहार) और कपिशा (काबुल) में हिन्दू-साम्राज्य था। कनिष्क के वंशधर वहां राज्य कर रहे थे। उनकी राजधानी काबुल में थी। काबुल में सम्राट् कनिष्क का ग्रीष्म निवास था। जहां वह था, वहां अब बेगरम नाम का नगर आबाद है। जिस नगरहार में दीपंकर बुद्ध ने अनेक चमत्कार दिखाये थे, वही अब जलालाबाद के नाम से विख्यात है। हिड्डा वह स्थान है, जहां गौतम बुद्ध के भौतिक शरीर का कुछ अंश रखा गया था, और जिसके दर्शन को हजारों कोस से यात्री आया करते थे। इन स्थानों में उस बौद्ध समृद्धि के अनगिनत संस्मरण विध्वंस उपस्थित हैं।

ईसा की 8 वीं शताब्दि में अरबों ने अफगानिस्तान पर आक्रमण किया। सन् 870 में अरबों के सेनापति याकूब-एलैस ने सम्राट् कनिष्क के वंशधर को परास्त करके मुसलमानी राज्य स्थापित किया और प्राचीन बौद्ध इमारतों को विध्वंस कर डाला।

10 वीं शताब्दि में सुबुक्तगीन और अबुक्तउीन के आक्रमण के समय दो बड़े-बड़े गांव जो कि काबुल से 70 मील की दूरी पर हैं, हिन्दुओं के हाथ से निकल गये। और इसके पश्चात् जब महमूद गजनबी ने काबुल के रास्ते से भारत पर आक्रमण किया तब भारतीय सभ्यता का अफगानिस्तान से बिलकुल नाश हो गया था। सिर्फ काफिरिस्तान इसके हमलों से बच गया, वहां अब भी मुसलमानों का प्रचार नहीं था।

मुसलमान आक्रमणकारियों का हमेशा से यह नियम रहा है कि वह हिन्दुओं की पुरानी इमारतों, मठों और मन्दिरों को नष्ट करते आये हैं। इसलिए आज दिन जो भी खंडहर बच रहे हैं, उन्हें भी ईश्वरीय नियम समझना चाहिए।

हाल ही में बहुत-से जर्मन और अंग्रेज विद्वानों ने मध्य एशिया और अफगानिस्तान उत्तखनन में कई बातों का पता लगाया है। थोड़े दिनों पहले लोग यह नहीं जानते थे कि अफगानिस्तान में बौद्धों के क्या चिह्न हैं? परन्तु फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् फूसर ने अफगानिस्तान के अमीर की आज्ञा से पहले-पहल सन् 1897 ई० में खोज करना शुरू किया। वहां उसको अनेकों बातें मिलीं। वह बहुत-सी बौद्ध मूर्तियां और अन्य वस्तुएं उठाकर फ्रांस में ले गया और वहां उन्हें फ्रांस के म्यूजिम में रक्खा, जिनको देखकर यूरोप के विद्वानों ने भारतीय प्राचीन कारीगरी का आश्चर्यजनक पता पाया।

जलालाबाद, हिद्दा और काबुल में बौद्ध-कालीन मूर्तियां, मूर्ति-खंड और बहुत-से चिह्न मिले हैं, जो बौद्ध-युग के शिल्प के सच्चे नमूने हैं। यहां बहुत-से स्तूप, बिहार, चैत्य और मूर्तियां मिली हैं; जैसी तक्षशिला और तख्तवाही आदि के धुस्सों में मिली थीं। हिद्दा में जो स्तूप मिला है, उसे अफगान पश्तो भाषा में 'खायस्ता का स्तूप' कहते है। खायस्ता का अर्थ विशाल है, जो स्तूप को देखकर 'यथानामा तथा गुणः' प्रतीत होता है। यहां पर चीनी यात्री फाह्यान ने एक अभ्रंकश बौद्ध-बिहार देखा था, उसके विषय में उसने लिखा था—पृथ्वी चाहे फट जाय, और आकाश डोलने लगे, पर यह बिहार विध्वंस होने का नहीं।

हाय ! पर वह विध्वंस हो ही गया !! यह काल की माया है। हिद्दा में बुद्ध की खोपड़ी, दांत और दंड रक्षित थे। उनकी रक्षा और पूजा के लिए राजा ने पुजारियों को नियत किया था। जिस स्तूप में बुद्ध की कपालास्थि रक्खी थी, उसका दर्शन करने वालों को एक स्वर्ण-मुद्रा देनी पड़ती थी। जो यात्री मोम आदि पर उस की प्रतिलिपि लेना चाहते थे, उन्हें पांच स्वर्ण-मुद्राएं देनी पड़ती थीं।

इसी तरह अन्यत्र भी फीस नियत थी, फिर भी यात्रियों की भीड़ सदैव बनी रहती थी। इनके विषय में चीनी यात्री हुएनसांग ने लिखा है—ये पवित्र अंग स्वर्ण-सिंहासन पर हिड्डा में रक्खे रहते हैं। यह महान् प्रख्यात् तीर्थ हिड्डा अब एक छोटा-सा ग्राम बन गया है। वहां एक छोटा-सा खेड़ा आबाद है। संघाराम और विहार टीले हो गए हैं।

हुएनसांग ने गांधार में बौद्ध-धर्म का ह्रास देखा था। गांधार की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी। पुरुषपुर, नगरहार और हिड्डा, ये तीन नगर कपिशर साम्राज्य के अन्तर्गत थे। वहां का सम्राट् क्षत्रिय बौद्ध था, जो प्रतिवर्ष बुद्ध की 18 फीट ऊंची चांदी की मूर्ति बनवाकर वह उसकी पूजा किया करता था। उस समय एक मेला लगता था, और मोक्षमहा परिषद् नाम से बड़ी सभा होती थी।

सम्राट् कनिष्क गर्मी के दिनों में कपिशा नामक नगर में रहा करते थे। वहां, जिस जगह आज जलालाबाद आबाद है, वहां पहले नगरहार नामक एक बहुत बड़ा शहर था। और वहां प्रसिद्ध बौद्ध-भिक्षु दीपंकर ने अपनी तपस्या के बड़े-बड़े चमत्कार दिखलाए थे।

कपिशा-साम्राज्य के अन्तर्गत लगभग एक-सौ विहार थे। और उनमें 6000 बौद्ध-भिक्षु रहते थे। अब उनके सिर्फ ध्वंसावशेष रह गये हैं। हां, एक स्तंभ अभी तक खड़ा है। न भूकम्प और न मूर्तिभंजकों के कुल्हाड़ों की उस पर मार पड़ी है। हुएनसांग ने कोई 1000 बौद्ध-साधु, 10 विहार देखे थे और एक बुद्ध की 100 फुट ऊंची मूर्ति देखी थी वह मूर्ति अब भी बामियान में है, और वहां के निवासी उसे अजदहा कहते हैं। उनका विश्वास है कि किसी मुसलमान फकीर ने उस अजदहे को मारा था, उसी की यह स्मृति है।

हिड्डा में जो बुद्ध के शरीर का कुछ अंश रक्खा हुआ है और जिसे सैंकड़ों देशों के यात्री दर्शन करने आते हैं। इस जगह जो मूर्तियां मिली हैं, वह ऐसी हैं कि उनकी कारीगरी की बराबरी करने वाली कोई चीजें ही नहीं मिलती हैं।

हिड्डा में जो स्तूप फ्रांस के विद्वानों ने खोज करके निकाला है, उसे वहां के निवासी पास्ता का स्तूप कहते हैं। पास्ता का अर्थ विशाल है, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह स्तूप बहुत ही विशाल है।

जब चीनी यात्री फाहियान हिड्डा गया था, तब भी यह स्तूप था। यह सुना जाता है कि—जब यह स्तूप बनाया गया था, उस समय इसके विषय में यों कहा गया था कि यदि पृथ्वी फट जाए, सैंकड़ों भूकम्प आ जाएं, पर यह स्तूप अपने स्थान से किंचितमात्र भी नहीं हटेगा। हिड्डा में बहुत से स्तूप थे, जिनमें युद्ध के दांत, डाढ़ें और मस्तक की हड्डियां रक्खी हुई थीं। इनकी रक्षा के लिए कपिशा के राजा ने कुछ पुजारी नियत कर दिए थे। जिस स्तूप में बुद्ध के शरीर की हड्डी, दांत आदि रखे हुए थे, उसके दर्शन करने वाले यात्री से एक मोहर ली

जाती थी। और जो मोम आदि पर इनकी नकल लेना चाहता था, उससे चार अशर्फियां ली जाती थीं। लेकिन इतने दाम देकर भी दर्शनार्थियों की भीड़ लगी ही रहती थी।

ह्यानसांग ने लिखा है—हिद्दा के स्तूप में एक बहुत बड़े कीमती सिंहासन पर पर चीजें रक्खी हुई थीं।

आज वह वैभवशाली हिद्दा नगर एक छोटा-सा गांव रह गया है। संघारामों की विहारों की और स्तूपों की इमारतें नष्ट होकर रेती के टीलों में परिवर्तित हो गई हैं। वहां बालू-मिट्टी के सिवा कुछ नहीं हैं। स्तूपों का और मूर्तियों का वहां चिह्न-मात्र तक नहीं है। बहुत ढूँढने पर कहीं-कहीं रंग का काम मिल जाता है।

हुएनसांग के समय में कंधार में, बौद्ध-धर्म नष्टप्राय हो रहा था। कंधार की राजधानी पेशावर थी। इसे पुष्पपुर भी कहते थे। पुष्पपुर और हिद्दा ये दोनों राज्य कपिशा के राजेश्वर क्षत्रिय राजा के थे। हर साल वह 18 फीट ऊंची चांदी की मूर्ति बनवाकर उसका जलूस निकलवाता था। जलूस के साथ-ही-साथ 'मोक्ष महापरिषद्' नाम की एक सभा का भी अधिवेशन हुआ करता था। इस अवसर पर राजा बहुत कुछ दान दिया करता था। यहां पर छः हजार भिक्षु रहा करते थे।

बौद्धों के स्तूप और विहारों के आस-पास हिन्दुओं के भी मठ और मन्दिर थे। काबुल में भी बहुत से स्तूप और विहार थे; किन्तु उनकी जगह अब कुछ नहीं है। परन्तु वहां एक स्तम्भ तो ज्यों-का-त्यों ही खड़ा है। न वह भूकम्पों से भूमिक्षात हुआ है और न मूर्ति-भंजक ही उसका कुछ बिगाड़ सके।

बामियान में जब हुएनसाँग गया था तो उस समय वहां बौद्ध-धर्म का खूब प्रचार था। यहां 1000 भिक्षु थे। यहां बुद्ध की एक पत्थर की 150 फीट ऊंची मूर्ति और एक 100 फीट ऊंची धातु की मूर्ति आकाश से बातें करती थीं। छोटी-मोटी मूर्तियां अगनित थीं।

यहां अब भी एक बड़ी भारी मूर्ति है, जिसे सन् 1879 में जो अफगान का युद्ध हुआ था, उसमें तब जनरल के ने भी उसे देखा था। वहां के निवासी इसे अस्दाह कहते हैं और उनका यह खयाल है कि अस्दाह को किसी मुसलमान ने मारा था, उसी का यह स्मारक है। अब इस पत्थर की मूर्ति की पूरी मरम्मत कर दी गई है तथा यह अफगानिस्तान का प्राचीन गौरव है।

जो बामियान शहर बौद्धों के समय में धन्य-धान्य और व्यापार का केन्द्र था। जहां हजारों कोसों से सैकड़ों देशों के यात्रियों के जत्थे-के-जत्थे आया करते थे, उसे आठवीं शताब्दी में अरबों ने तहस-नहस कर दिया और लाखों भिक्षुओं को तलवार के घाट उतारा और वहां की इमारतों को तोड़-फोड़कर खंडहर बना डाला।

इसके बाद बामियान नगर तुर्कों के हाथ में आया और उसे भी चंगेजखां मंगोल ने 12वीं शताब्दि में फिर नष्ट कर दिया।

7

बौद्ध-धर्म साहित्य

ईसा से पूर्व छठी शताब्दि में, समाज की दशा ऐसी हो गई थी कि धर्म के स्थान पर विधान हो गये थे। ब्राह्मणों के अधिकार अपरिमित थे, और शूद्रों के लिए कठोर विधान थे। उस समय बुद्ध ने अपने नवीन धर्म का प्रचार किया। उसका धर्म दया और उदारता की भित्ति पर था। उसकी दृष्टि में कष्टकर धर्म-विधान निरर्थक थे। वह दुखी जनों से सहानुभूति रखता और उनके लिए आत्मोन्नति और पवित्र जीवन देता था। उसकी दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र एक थे। उसका यह धर्म कुछ शताब्दियों में समस्त एशिया का मुख्य धर्म होगा।

वह वास्तव में नवीन धर्म निर्माण करने का इच्छुक न था। वह उसी प्राचीन पवित्र धर्म में संशोधन कर रहा था, और 50 वर्ष तक वह धर्म-सेवा करता रहा। उसने इस धर्म को सद्‌र्म का नाम दिया।

अब से 150 वर्ष पूर्व बौद्ध-ग्रंथों के सम्बन्ध में लोगों को कुछ भी ज्ञान न था। सन् 1824 में प्रसिद्ध पादरी डॉक्टर मार्शमेल साहब ने बुद्ध के विषय में इतना ही लिखा था कि उसकी पूजा सम्भवत: इजिप्ट के एपिस से सम्बन्ध रखती है। इसके बाद सन् 1833 से 1543 तक हडसन साहब नेपाल के रेजीडेण्ट रहे। उन्होंने बहुत से बौद्ध-धर्म के हस्त-लिखित ग्रंथ संगृहीत किये। उन्होंने बंगाल एशियाटिक सोसाइटी को 85 बस्ते, लन्दन की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी को 85 बस्ते, इंडिया ऑफिस लाईब्रेरी को 30 बस्ते, ऑक्सफोर्ड की वौडलियन लाइब्रेमी को 7 बस्ते और पैरिस की सोसाइटी एशियाटिक वा वर्नाफ साहब को 174 बस्ते भेजे।

इन प्राचीन ग्रंथों में यूजीनवर्नाफ साहब ने जीवन डाला और अनवरत परिश्रम से उन्हें ठीक करके उन ग्रंथों को यूरोप के विद्वानों के सम्मुख रखा। उन्होंने एक ग्रंथ लिखा, जिसका नाम 'इंट्रोडक्शन टू दी हिस्ट्री ऑफ इण्डियन बुधिज्म' था, और जो सन् 1844 में छपा था, जो इस विषय का पहला वैज्ञानिक ग्रंथ था। इसके पश्चात् तिब्बत में हंगेरिया के विद्वान् पण्डित गलेक़जेण्डर

सोमाकारोसी ने वहुत से हस्तलिखित ग्रंथों का पता लगाया। यह विद्वान् सन् 1820 में बुखारेस्ट से बिना धन और मित्र के निकला। स्थल में पैदल और जल में नौका पर वह बगदाद आया। वहां से तेहरान और तेहरान से एक काफिले के साथ खुरासान होते हुए बुखारा पहुंचा। सन 1822 में वह काबुल आया, वहां से लाहौर और काश्मीर के रास्ते लदाख पहुंचा, वहां बहुत दिन रहा। सन 1831 में वह शिमला में था। जहां वह एक मोटे नीले कपड़े का ढीला-ढाला अंगा जो कि एड़ियों तक लटकता था, और एक टोपी उसी कपड़े की पहनता था। उसकी डाढ़ी कुछ सफेद थी। वह यूरोपियनों से दूर रहता और सब समय अध्ययन में लगता था। सन् 1832 में वह कलकत्ते आया, और डॉ० विल्सन और जेम्स प्रिंसेप से मिला। वहां बहुत समय रहकर वह 1842 में तिब्बत को चला; परन्तु मार्ग ही में दार्जिलिंग में, ज्वर से उसका देहान्त हो गया। बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने दार्जिलिंग में, उसकी कब्र पर एक स्मारक बनवाया है। इस महापुरुष ने बौद्ध-साहित्य-सम्बन्धी जो कार्य है, वह सब वृत्तान्त एशियाटिक रिसर्चेस के बीसवें भाग में दिया गया है। इसके पश्चात् तिब्बत से बहुत कुछ मसाला मिला है।

चीन से बौद्ध ग्रंथों के संग्रह करने का श्रेय श्रद्धेय सोम्युएल वील साहब को हैं। यह संग्रह जापान के राजदूत ने इंगलैंड भेज दिया था, जो 'दी से क्रेट टीचिंग आफ दी थ्री ट्रेजर्स' के नाम से प्रसिद्ध है। इस संग्रह में लगभग 2000 ग्रंथ हैं। उसमें वे सब ग्रंथ हैं, जो भिन्न-भिन्न शताब्दियों में भारत से चीन गये थे। इन पर चीन के पुजारियों की टिप्पणियां हैं।

इन पुस्तकों का प्रचार लंका में, ईसा से 242 वर्ष पूर्व किया गया था, और वे उसी रूप में, पाली-भाषा में अबतक उपस्थित हैं। इनका मनन टर्नर फासवाल, ओडेन वर्ग, चिल्डर्स, स्पेन्स हार्डी, राइज डेविड्स, मेक्समूलर, बेबर आदि विद्वानों ने किया है।

वर्मा से भी बौद्ध-साहित्य का बड़ा मसाला मिला है। विगेन्डेन्ट साहब ने सन् 1968 में यह मसाला प्रकट किया था; परन्तु यह कितने आश्चर्य का विषय है कि भारत के आसपास कि जहां से इतना भारी साहित्य हमें इस विषय पर मिला, वहां भारत में—जहां यह महान धर्म जन्मा और पन्द्रह-सौ वर्ष तक जीवित रहा—कुछ भी मसाला नहीं मिला !! भारत में इस प्रकार बौद्ध-संस्कृति का नाश हो गया।

भारत के बाहर के देशों से हमें जो बौद्ध-साहित्य मिला है, उसके दो विभाग किये जा सकते हैं—पहला दक्षिणी बौद्ध-साहित्य और दूसरा, उत्तरी बौद्ध-साहित्य। यह साहित्य जिस रूप में नेपाल, तिब्बत, चीन और जापान में मिला है, वह उत्तरी और जो लङ्का और वर्मा में है, वह दक्षिणी है। उत्तरी साहित्य

बहुत विकृत और नवीन है; क्योंकि उत्तर की जातियों ने ईसा की कुछ शताब्दियों के उपरान्त बौद्ध मत को ग्रहण किया था। चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार ईसा की पहली शताब्दि में हुआ, और चौथी शताब्दि में यह राजधर्म बना। जापान में पांचवीं शताब्दि में, और तिब्बत में, सातवीं शताब्दि में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ, इसीलिए तिब्बत आदि बौद्ध-धर्म से बहुत दूर हैं, और उसमें से कुछ ऐसे विधान हैं, जो बुद्ध को ज्ञात भी नहीं थे।

इसके विपरीत दक्षिणी बौद्ध-मत से हमारे लिए बहुत अमूल्य साहित्य प्राप्त होता है। दक्षिणीय बौद्धों की पवित्र पुस्तकें जो 'त्रिपिटक' कहाती हैं, और जो लंका में प्राप्त हुई हैं, वे वही नियम हैं जो ईसा से 242 वर्ष पूर्व निश्चय हो चुके हैं।

अब से 80 वर्ष पूर्व यह माना जाता था कि बुद्ध की मृत्यु ईसा से 543 वर्ष पूर्व हुई थी; परन्तु अब यह निर्णय हो गया है कि यह महान पुरुष ईसा से 557 वर्ष पूर्व जन्मा, और ईसा से 477 वर्ष पूर्व मरा। उसकी मृत्यु के पीछे मगध की राजधानी राजगृह में 500 भिक्षुओं की एक सभा (संगीति) हुई। उन्होंने स्मरण रखने के लिए पवित्र नियमों को गाया। इसके 100 वर्ष बाद दूसरी सभा ईसा से 377 वर्ष पूर्व वैशाली में हुई, जिसका मुख्य उद्देश्य उन दस प्रश्नों पर निर्णय करना था, और जिनके विषय में मतभेद हो गया था। इसके 135 वर्ष पीछे मगध के सम्राट् अशोक ने धर्म पुस्तकों अर्थात् पिटकों को अन्तिम बार निश्चित करने के लिए ईसा से 242 वर्ष पूर्व एक सभा पटना में की, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इसी अशोक ने असीरिया, मेसीडन और ईजिप्ट में धर्म-प्रचारक भेजे थे। उसने ईसा से 242 वर्ष पूर्व अपने पुत्र महेन्द्र को वे ही 'पिटक' लेकर लंका भेजा था। लंका के राजा तिषा ने यह धर्म ग्रहण किया था। इस प्रकार ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दि में लंका ने बौद्ध-धर्म ग्रहण किया, और उस के 150 वर्ष बाद ये 'पिटक' लिपिबद्ध किये गए। इस प्रकार लंका के पाली 'पिटक' मगध के सबसे प्राथमिक बौद्ध-धर्म ग्रंथ हैं। और ईसा से लगभग 88 वर्ष पूर्व लिपिबद्ध किये गए हैं।

अब यह बात तो सिद्ध हुई कि लंका के त्रिपिटक ईसा से 242 वर्ष पूर्व के हैं। पटना की सभा ने सभी अप्रमाणिक ग्रंथों को सम्मिलित नहीं किया था। विनयपिटक के इस बात के प्रमाण भी हैं कि इस पिटक के मुख्य-मुख्य भाग वैशाली की सभा के पहले अर्थात् ईसा के 377 वर्ष से अधिक पुराने हैं; क्योंकि उन उन भागों में दसों प्रश्नों के विवाद का कोई उल्लेख नहीं हैं। इससे प्रतीत होता है। कि विनयपिटक के मुख्य भाग दूसरी सभा के पहले के अर्थात् ईसा से 377 वर्ष पूर्व के हैं।

निश्चय ये तीनों पिटक, बुद्ध की मृत्यु के 100-200 वर्ष के बाद ही बनाये

गए हैं; क्योंकि इनमें गंगा की घाटी के हिन्दुओं के जीवन और हिन्दू-राज्यों के इतिहास का वर्णन है। साथ ही बुद्ध के जीवन-कार्य और उसकी शिक्षाओं का अधिक प्रामाणिक और कम बनावटी वृत्तान्त मिलता है। बुद्ध के जीवन की वास्तविक घटनाएं तत्कालीन हिन्दू-समाज और राज-सत्ता की दशा हम जानना चाहें, तो हम इन्हीं 'त्रिपिटक' के द्वारा जान सकते हैं। ये तीनों पिटक-'सुत्त-पिटक' 'विनय-पिटक' और 'अभिधर्म-पिटक' के नाम से प्रसिद्ध हैं। लंका में ये ग्रंथ पिटारों में रक्खे गए, इस लिए इनका नाम 'पिटक' रक्खा गया।

'सुत्तपिटक'—में वे बातें हैं, जो स्वयं बुद्ध ने कही हैं।

'विनय-पिटक'—में भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए आचरण-सम्बन्धी नियम हैं। ये भी बुद्ध की आज्ञा से बनाये गए हैं।

'अभिधर्म-पिटक'— में भिन्न-भिन्न विषयों पर शास्त्रार्थ है, अर्थात् भिन्न-भिन्न लोकों में जीवन की अवस्थाओं पर, शारीरिक गुणों पर, तत्वों पर और अस्तित्व के कारणों पर विचार है।

यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने इस साहित्य का प्रचार सर्व-साधारण की भाषा में किया था। चुल्लुवर्ग (5।33।1) में लिखा है—दो भिक्षु ब्राह्मण थे, ये भाई थे, इनका नाम पमेलु और ठेकुल था। उन्होंने बुद्ध से कहा—प्रभु ! इस समय भिन्न-भिन्न जाति और गोत्र के लोग भिक्षु हो गए हैं; वे अपनी-अपनी भाषा में बुद्ध के वाक्यों को नष्ट करते हैं। इस कारण हमें आज्ञा दीजिए, हम बुद्ध के वाक्यों की संस्कृत छन्दों में रचना करें। बृद्ध ने कहा—हे भिक्षुओ ! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूं कि तुम बुद्धों के वाक्यों को अपनी ही भाषा से सीखो।

क्या बुद्ध का यह स्वर्ण उपदेश हम हिन्दी भाषा-भाषी भी सुनें ? त्रिपिटक की सूची यह है—

त्रिपिटक (पाली) हीनयान (दक्षिण बौद्ध-साहित्य)

1—सूत्त-टिपक (भगवान् बुद्ध के निर्माण किये ग्रन्थ)

(1) दीर्घनिकाय (ब्रह्मज्ञान-सूत्त—अर्थात् बड़े-बड़े ग्रन्थ जिनमें 34 सूत्रों का संग्रह है)

(2) मज्झिमनिकाय (अनुमान सूत्त मध्यम ग्रन्थ जिनमें 152 सूत्र हैं)

(3) संयुक्त-निकाय (सम्बन्ध ग्रन्थ)

(4) अंगुत्तर-निकाय (ऐसे ग्रन्थ जिनमें कई भाग हैं और प्रत्येक भाग का विस्तार एक-एक करके बढ़ता गया है)

(5) खुद्दक-निकाय (छोटे-छोटे ग्रन्थ जिनमें पन्द्रह ग्रन्थ हैं और जिनका विस्तार से वर्णन यह है)

(क) खुद्दक-पाठ (छोटे-छोटे वचन)
(ख) धम्म-पद (धार्मिक आज्ञाओं का संग्रह)
(ग) उदान (82 छोटे-छोटे छन्द जिन्हें भिन्न-भिन्न समय पर बुद्ध ने कहा)
(घ) इति बुत्तक (बुद्ध की 110 बातें)
(ङ.) सुत्त निपात (70 छन्द)
(च) विमान वत्थु (स्वर्गीय महिलाओं की कथाएं)
(छ) पेत वत्थु (प्रेतों का विषय)
(ज) थेर गाथा (भिक्षुओं के छन्द)
(झ) थेरी गाथा (भिक्षुणियों के छन्द)
(ञ) जातक (पूर्व जन्मों की 550 गाथाएं)
(ट) निद्देस (सुत्त निपात और सारिपुत्र का भाष्य)
(ठ) पतिसंमिधा भाग (अन्तर ज्ञान विषय)
(ड) अपदान (अरहतों की कथाएं)
(ढ) बुद्ध वंश (गौतम बुद्ध और पूर्व के 24 बुद्धों का वर्णन है)
(ण) चर्यापितक (गौतम के पूर्व जन्मों के सूक्त का वर्णन है)

2—विनय-पिटक—

(अ) पविार
(आ) यातिमोख
(इ) विभंग (पापों और उसके दण्डों का वर्णन संग्रह)

3—अभिधम्म-पिटक—

(1) पत्थान (अस्तित्ववाद विषय)
(2) धम्म-संगणी (भिन्न-भिन्न लोकों में जीवन की दशाओं का वर्णन)
(3) धातु-कथा (तत्वों का वर्णन)
(4) पुग्गल-पण्णत्ति (शारीरिक गुणों का विषय)
(5) विभंग (शास्त्रार्थ की 18 पुस्तकों का संग्रह)
(6) थमक (परस्पर अनुकूल और प्रतिकूल विषयों का वर्णन)
(7) कथावत्थु (विवाद के 1000 विषय)
(8) मिलिन्द वन्द

महायान का साहित्य उत्तरीय बौद्ध-साहित्य है। और इसका सम्पादन ईसा

की पहली शताब्दि में शकराज कनिष्क के काल में किया गया था। इस राज्य ने जालन्धर में 500 भिक्षुओं की चौथी सभा बुलाई थी, जो आचार्य पूर्णक और वसुमित्र की अध्यक्षता में हुई थी। इन्होंने पाली त्रिपिटक के आधार पर उसकी स्वतन्त्र टीकारूप 3 श्रेणी के साहित्य का निर्माण किया, जिनके नाम—सूत्र उपदेश, विनय-विभाषा और अभिधर्म-विभाषा है। इन में अभिधर्म-विभाषा-ग्रन्थ कात्यायनिपुत्र के अभिधर्म ज्ञान प्रस्थान शास्त्र का टीका है, जो पाली अभिधर्म पिटक की टीका है। यह ग्रन्थ कनिष्क से 100 वर्ष पूर्व यानी बुद्ध-निर्वाण के 300 वर्ष वाद बन चुका था। इस प्रकार बौद्ध-धर्म-ग्रन्थों को संस्कृत रूप देने का श्रेय कनिष्क को ही है।

इसी साहित्य में प्रख्यात् बौद्ध-दर्शनवाद है। इसके चार भेद हैं—सौमान्तिक, वैभाषिक, यौगाचार और माध्यमिक।

1—सौमान्तिक दर्शन—आन्तरिक जगत् को स्वीकार करता है, बाह्यजगत् को अनुमान से मानता है। राजगृह में पहली परिषद् जो हुई थी, उसके निर्णय को 'थेरावाद' नाम दिया गया है। उसी के सिद्धान्तों के आधार पर इस दर्शन की रचना हुई है। वैशाली की दूसरी सभा के निर्णीत सिद्धान्तों को 'महासांघिक वाद' कहा गया है; इसे गौणरूप से यह दर्शन स्वीकार करता है। बौद्ध सम्प्रदाय में इसे 'बाह्यार्थास्थिरवाणी' कहा गया है। इस दर्शन को प्रारम्भिक रूप देने वाला कनिष्क-कालीन धर्मोत्तर का उत्तरधर्म नाम का आचार्य था; किन्तु चीनी यात्री हुएनसांग के मत में इसका आचार्य तक्षशिला का प्रसिद्ध आचार्य और प्रवर्त्तक कुमारलब्ध था, जो कि नागार्जुन और अश्वघोष का समकालीन था। श्रीलब्ध आचार्य ने सौमान्तिक ग्रंथ विभाषाशास्त्र लिखा है।

2—वैभाषिक दर्शन—बाह्य और आन्तरिक जगत् को मानता है, और प्रायः टीकाओं पर निर्भर करने से वैभाषिक नाम पड़ा।

3—योगाचार—विज्ञानाद्वैतवादी, केवल ज्ञान ही को मान्य करता है। 300 ईसवी में इसकी रचना हुई है।

4—माध्यमिक—शून्याद्वैतवादी। नागार्जुनसिद्ध इसके प्रवर्त्तत हैं। इसके सिद्धान्तों का वर्णन प्रज्ञा-पारमिता में भी मिलता है। इस साहित्य की सूची है—

महायान साहित्य (संस्कृत)

1—सूत्र उपदेश, 2—विनय विभाषा, 3—अभिधर्म विभाषा।

पाली त्रिपटिक का विषय स्वतन्त्र ढंग से संस्कृत में सम्पादन किया गया है।

नवधर्म

1—अष्ट सहस्र का प्रज्ञापारमिता (8 हजार श्लोक साधुचार्य)

2—गण्ड-व्यूह
3—दश भूमीश्वर
4—समाधिराज
5—लंकावतार सूत्र
6—सद्धमे पुण्डरीक
7– तथागत गुह्यक
8—ललित विस्तर (बुद्ध-चरित्र)
9—सुवर्ण प्रभास।

बौद्ध-दर्शन—

1—सौमान्तिक दर्शन—(1) विभाषा शास्त्र।

2—वैभाषिकदर्शन—(1) कात्यायनिपुत्र-अभिधर्मज्ञान प्रस्थान-शास्त्र, (2) अभिधर्म महाविभाषा शास्त्र, (3) संघभद्र-न्यायानुसार शास्त्र का कोशकारक शास्त्र।

3—योगाचार—(1) लंकावतार सूत्र, (2) महासमय सूत्र, (3) बोधि-सत्वचर्या निर्देश, (4) सप्तदश भूमिशास्त्र योगाचार।

4—माध्यमिक—(1) नागार्जुन (माध्यमिककारिका), (2) बुद्धपालित (मूल मध्यमवृत्ति), (4) आर्षदेव (हस्तबल), (4) भव्य (मध्यम हृदयकारिका), (5) कृष्ण (मध्यम प्रतीक्ष्य समुत्पाद), (6) चण्डकीर्ति (माध्यमिक वृत्ति), (7) जपानन्त (माध्यमिकावतार टीका), (8) नागार्जुन (मूल माध्यमिक वृत्ति अक्रतोमय), (9) धर्म-संग्रह।

ललित विस्तर को बौद्ध-साहित्य में महत्वपूर्ण माना गया है। बुद्ध ने बोधि-वृक्ष के नीचे बैठकर बुद्धत्व प्राप्त करके जगत् का उद्धार करने के लिए जब अपना उपदेश प्रारम्भ किया था, तब तक का बुद्ध का जीवन-चरित्र इस पुस्तक में दिया गया है। इस पुस्तक के बहुत-से अंश गद्यमय और शेष सब पद्य में हैं। इसमें 27 परिवर्तन हैं। इसकी भाषा को हभ शुद्ध संस्कृत नहीं कह सकते। कुछ विद्वान् इसे गाथा-संस्कृत कहते हैं। इसमें बुद्ध का जीवन आलंकारिक रीति से लिखा गया है। इसमें बहुत-सी चमत्कारपूर्ण बातें बताई गई हैं, इसलिए ऐति-हासिक दृष्टि से हम इसे महत्वपूर्ण नहीं कह सकते। इसके लेखक का भी काल निश्चित् नहीं है। इस की रचना ईसा के प्रारम्भ की है। जर्मनी से इसका एक संस्करण लेफमेन ने प्रकाशित किया है।

बुद्ध-चरित्र बौद्ध-साहित्य का एक दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका लेखक अश्वघोष है। बौद्धों में अश्वघोष नाम के कई पंडित हो चुके हैं। लेकिन इस विद्वान् ने जो रचना की है वह ईसा की पहली शताब्दि की है और वह काश्मीर

के राजा कनिष्क की राजसभा का पंडित था। यह ग्रंथ कालिदास की रोचक शैली में लिखा गया है। रघुवंश और कुमार सम्भव के श्लोकों के साथ इस का सादृश्य है। इसमें बुद्ध का चरित्र काव्य की दृष्टि से बहुत सुन्दर और रोचक लिखा गया है। अश्वघोष ने और भी बहुत-से ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें सौन्दरनन्द, सूत्रालंकार, श्रद्धोत्पाद, शारीपुत्र प्रकरण, अभिधर्म विभाग, गण्डीस्त्रोत आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।

स्वर्गीय प्रोफ़ेसर कोवेल ने बुद्ध-चरित्र का एक बहुत सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया था।

बौद्धों में अवदान-साहित्य की बहुत प्रशंसा है। अवदान का अर्थ है, उदात्त अर्थात् पराक्रम का कार्य। इस लम्बे-चौड़े साहित्य में बुद्ध के इस जन्म और पूर्व-जन्म की कथाएं हैं। ये कथाएं बहुत ही आश्चर्यजनक हैं। इसमें अवदानशतक, दिव्यदान, रूपवती-अवदान, कल्पद्रुम-अवदान, द्वाविंशत्यवदान, भद्रफलावदान, विचित्रकणिकावदान, सुमगधावदान, अवदानकल्पलता, व्रतवन्दमाला, जातकमाला (बोधिसत्वावदान) आदि ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें बहुत से ग्रंथ अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं। बोधिसत्वावदान का लेखक आर्यशूर है। इस ग्रंथ को हारवर्ड ओरिएन्टल सीरीज में एच० कर्न साहब ने प्रकाशित किया है। अवदान कल्पलता का कुछ हिस्सा रायबहादुर शरच्चन्द्रदास ने बंगाल एशियाइटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित किया है।

महायान बौद्ध-साहित्य के जो नव धर्म हमने ऊपर गिनाये हैं और जिनमें से ललित विस्तर का वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। सद्धर्म पुण्डरीक सन् 1908 में रूस के सेंटपीटर्स वर्ग के "वीकली ओथेका बुद्धिका" नाम की ग्रंथमाला में प्रकाशित हुआ था। जिसका अंग्रेजी अनुवाद एच० कर्ण साहब ने सेकेंड-बक्स नामक ग्रंथ-माला में प्रकाशित किया है। इस कथा में अवलोकितेश्वर, अमिताभ और मंजुश्री आदि भिन्न-भिन्न रूपों की कल्पना की जाती है। और इसके वर्णन और गुप्त कीर्तन के लिए गण्ड-व्यूह, करण्ड-व्यूह, सुखावती-व्यूह आदि पुस्तकों की रचना की गई है। लंकावतार में शाक्य मुनि बुद्ध के साथ लंकाधिपति रावण की भेंट का वर्णन है। रावण बुद्ध से धर्म-सम्बन्धी अनेक प्रश्न करता और बुद्ध उनका उत्तर देता है। वह उत्तर बौद्ध-धर्म की योगाचार शाखा के सिद्धान्तों से मिलते हुए हैं। इसमें सांख्य, वैशेषिक, पाशुपत आदि मतों का विवेचन किया गया है। एक भविष्यवाणी की गई है कि बुद्ध की मृत्यु के 100 वर्ष पश्चात् व्यास उत्पन्न होंगे और वह महाभारत की रचना करेंगे। तत्पश्चात् पाण्डव, कौरव, चन्द, मौर्य, गुप्त और म्लेच्छ-वंश के राजा उत्पन्न होगे।

माध्यमिक शाखा में सबसे प्रबल आचार्य नागार्जुन हुए हैं। यह ई० सन् की दूसरी या तीसरी शताब्दि में दक्षिण भारत में हुए हैं। उन्होंने माध्यमिक-कारिका, धर्म-संग्रह आदि ग्रंथ लिखे हैं। इस विद्वान् ने संस्कृत-साहित्य के प्रमुख ग्रंथों का

बौद्ध-धर्म के ग्रंथों में समावेश किया है।

हीनयान सम्प्रदाय पाली भाषा का अति प्राचीन माननीय सिद्धान्त है। जिसमें हम बता चुके हैं कि त्रिपिटक का संग्रह बहुत महत्वपूर्ण है। यह त्रिपिटक कोई एक पुस्तक का नाम नहीं, किन्तु बहुत-सी पुस्तकों का संग्रह है। जैन-धर्म में जो आदर आगम शास्त्रों का है और हिन्दुओं में जो वेदों का है, बौद्धों में भी वही आदर त्रिपिटक का है। कुल त्रिपिटक के ग्रंथ महाभारत के तिगुने आकार के होंगे। इन सब ग्रंथों का संग्रह कब हुआ, कैसे हुआ और किसने किया, यह सब बताना कठिन है। कहते हैं, इनकी रचना पाटलीपुत्र में हुई। और इसके बाद जब महाराज अशोक का पुत्र महेन्द्र बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए लंका गया था तब इसको वह अपने साथ ले गया था। स्मरण रहे कि इन ग्रन्थों में राजगृह और वैशाली की सभाओं का तो वर्णन है, पर पाटलीपुत्र में हुई सभा का उल्लेख नहीं है। सम्भव है कि इन दोनों सभाओं के मध्य में इनकी रचना हुई हो। इसमें तो कोई शक नहीं कि त्रिपिटक के बहुत से अंश बहुत प्राचीन हैं लेकिन बहुत से अर्वाचीन भी हैं। इनका अनुवाद चीनी, जापानी, सिंही और बर्मी भाषा में हुआ है। कुछ लोगों का मत है कि पहले दो ही पिटक थे सुत्त पिटक और विनय पिटक। सुत्त पिटक के 5 निकाय हैं उसमें बुद्ध ने जो उपदेश अपने शिष्यों को दिया है वह प्रश्नोत्तर के रूप में है। बुद्ध और उसके शिष्यों में जो परस्पर वाद-विवाद और प्रश्नोत्तर हुए हैं, उनका बराबर इसमें संग्रह किया गया है। ये प्रश्नोत्तर और संवाद बहुत गहन हैं। इनके एक-एक सूत्र पर एक-एक व्याख्यान और एक-एक ग्रंथ लिखे जा सकते हैं। दीर्घ निकाय में दीर्घ अर्थात् बड़े लम्बे संवाद हैं। मज्झिम-निकाय में मध्यम आकार के संवाद हैं। संयुक्त निकाय में एक ही विषय पर भिन्न-भिन्न शिष्यों के साथ हुए संवादों का संग्रह है। अंगुत्तर निकाय में बौद्ध-धर्म के मानस शास्त्र तथा नीति शास्त्र के सूत्र बने हुए संवाद अलग किये गये हैं। अंगुत्तर निकाय सब निकायों से बड़ा है। खुद्द निकाय में छोटे-छोटे संवादों का समावेश है। इसके 15 अन्तर्विभाग किये गए हैं—1. खुद्दक पाठ, 2. धम्मपद, 3. उदान, 4. इतिवुतक, 5. सुत्तनिपात, 6. विमान वत्थु, 7. पेत वत्थु, 8. थेर गाथा, 9. थेरी गाथा, 10. जातक, 11. निद्देक, 12. परिसभिदामग्ग, 13. अवदान, 14. बुद्धवंश, 15. चरिया पिटक।

खुद्दक पाठ—यह छोटी पुस्तक नये भिक्षुओं के लिए है। इसमें मनुष्य देह की रचना, अस्थि, मज्जा, स्नायु आदि 34 विषयों पर थोड़ी-थोड़ी चर्चा की गई है।

धम्मपद—में धार्मिक और नैतिक विषय के 423 श्लोकों का संग्रह किया गया है। सब श्लोक बौद्ध धर्मानुसार नीति और संयम के 26 विषयों में विभाजित कर दिए गए हैं, और प्रत्येक विषय में 10 से 20 तक श्लोक हैं। इसमें बहुत से श्लोक महाभारत और मनुस्मृति के भी हैं। इसमें ग्रन्थ की एक प्राचीन टीका भी

है जिसमें प्रत्येक श्लोक पर एक-एक घटना लिखी गई है। ये घटनाएं सरल पाली भाषा में लिखी हुई और बहुत रसमयी हैं। प्राचीन काल में नालन्दा, बिक्रम-शिला आदि 2 स्थानों में जो पाठशालाएं थीं उनमें अध्ययन करने वाले विद्यार्थी, गिरिकन्दराओं तथा विहारों में रहने वाले बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणी, संसारी और विरक्त सब एक ही रीति से भक्तिपूर्वक इस ग्रन्थ को पढ़ते थे।

उदान—में उन बातों का वर्णन है कि जब बुद्ध बहुधा किसी दृश्य या अद्भुत वस्तु को देखकर एकाएक प्रसन्न हो उठते थे। उस समय उनके मुख से कुछ-न-कुछ काव्यमय सरस शब्द निकल पड़ते थे। उनके शिष्यगण उन वचनों को लिख लिया करते थे। उदान में इस प्रकार के 82 वचनों का संग्रह है।

इतिवुत्तक के विषय में प्रो० रीज़ डेविड्स का कहना है कि यह ग्रन्थ ई०सन् से 400 वर्ष पूर्व का होगा। इसमें बुद्ध के 120 वचनों का संग्रह है।

सुत्तनिपात—इस पुस्तक में 70 सूत्र दिये गए हैं जो छन्दोबद्ध हैं। उनके 5 विभाग हैं।

विमानवत्थु और प्रेतवत्थु इन दोनों में स्वर्ग-नर्क तथा प्रेत सम्बन्धी बातें हैं।

थेर गाथा तथा थेरीगाथा—थेर अर्थात् स्थविर वृद्ध-पुरुष और थेरी वृद्ध-भिक्षुणी को कहते हैं। इस पुस्तक में वृद्ध-भिक्षु और भिक्षुणियों के काव्यों का संग्रह है और उनकी जीवन कथा भी दी गई है। इस पुस्तक से बुद्धकालीन स्त्री-पुरुषों की दिनचर्या का ठीक-ठीक दिग्दर्शन होता है।

जातक—कथा में जन्म सम्बन्धी कथाएं हैं, जिनमें अधिकांश बुद्ध के पूर्व जन्म से सम्बन्ध रखने वाली हैं जो उसने प्रसंगवश अपने शिष्यों को सुनाई थीं। मालूम होता है कि ये कथाएं बुद्ध के समय और बुद्ध के बाद भी बहुत प्रचारित हुई थीं और सांची, अमरावती आदि स्थानों में तो इन कथाओं के आधार पर चित्र तैयार किये गए हैं। चीनी यात्री साहीयान ने भी इस पुस्तक का अपनी पुस्तक में जिक्र किया है। इस पुस्तक में उत्कृष्ट नैतिक विचारों को कथा के रूप में पेश किया गया है।

निहेश—'यह सूत्र निपात' ग्रन्थ की टीका मात्र है।

परिसंभिदामग्ग—इसमें बौद्ध अर्हतों की दिव्यदृष्टि के विषय में लिखा हुआ है।

अपादान—इसमें अर्हतों के चरित्र दिये गए हैं।

बुद्धवंश—इस ग्रन्थ में बुद्ध और उसके पहले हुए 24 बुद्धों के जीवन चरित्र दिये गए हैं।

चरिया पिटक—इस पुस्तक में बुद्ध के चौंतीस पूर्व जन्मों का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ बहुत ही अपूर्व है। सुतपिटक में इतनी ही पुस्तकों का संग्रह है।

विनय-पिटक में भिक्षुओं के पालन करने योग्य नियमों का संग्रह है। इनमें प्रधान पांच ग्रन्थ हैं—1. पारालिक, 2. पाचिति-यादि, (ये दो ग्रन्थ मिलाकर 'सुत्तविभंग' नामक विभाग बना है, इसमें प्रायश्चित के नियम हैं) 3. महावग्गम, 4. चुल्वग्ग, (ये दो ग्रन्थ मिलाकर 'स्वग्धक' नामक विभाग बना है।) और 5. परिवार पाठ अर्थात् परिशिष्ट। इनके बाद 'भिक्खु' भिक्खुणी पातिमोक्ख नामक ग्रन्थ है। इसमें बौद्ध साधु और साधवियों के दोषों का वर्णन और उनके प्रायश्चित के नियम हैं!

अभिधम्म पिटक—में बौद्धों के तत्व-ज्ञान का विवेचन है। इसमें ये छोटी-छोटी सात पुस्तकें हैं—1. धम्मसंउणी, 2. विभंग, 3. धातुकथा, 4. पुग्गल पज्जति, 5. कथावत्थु, 6. यमक, 7. पट्ठान; ये पुस्तकें अत्यन्त कठिन और नीरस हैं।

इसके अतिरिक्त पाली भाषा में और ऐसी पुस्तकें हैं, जो इस साहित्य से पृथक हैं। इन सब में मुख्य ये हैं—

महापरिनिव्वाण सुत्त— इसमें बुद्ध के अन्तिम तीन महीनों की दिनचर्या दी गई है। इससे बौद्ध-धर्म के मुख्य-मुख्य तत्त्व, तत्कालीन आचार-विचार, समाज नीति आदि अनेकों बातों का अच्छा पता लगता है।

मिलिन्द पन्हो—में काबुल के राजा मिलिन्द तथा बौद्ध संन्यासी नागसेन का धर्म-विषयक संवाद है। बहुत से विद्वानों का मत है कि यह ग्रन्थ ईसा से 202 वर्ष पहले का बना हुआ है।

दीपवंश और महावंश—ये दो ग्रन्थ ई० सन् की चौथी या पांचवीं शताब्दी में लिखे हुए सिंहल द्वीप के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनमें सीलोन का इतिहास है। महावंश नामक ग्रन्थ महानाम नामक एक सिंहली पण्डित का लिखा हुआ है। इसके 100 अध्याय हैं। इसके 37वें अध्याय में बुद्ध घोष का चरित्र है। इस बुद्ध घोष का लिखा विशुकि मग्ग नामक साहित्य, दर्शन, विज्ञान, इतिहास आदि का अपूर्व भण्डार है। इसको बुद्धघोष का समकालीन बताया जाता है।

ललित बिस्तर, बुद्धचरित्र, सद्धर्म, पुण्डरीक आदि कितने ही ग्रन्थों का चीनी तथा तिब्बती भाषाओं में अनुवाद हुआ है। इन्हीं सब ग्रन्थों के आधार पर कुछ नई पुस्तकें भी लिखी गई हैं। तिब्बत में रत्नराज नामक भिक्षु हुआ है उसने एक बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। 'क्यांग-र' नामक तिब्बती ग्रन्थ-संग्रह में 'ग-छेद-कोल्ह' नामक एक ग्रन्थ है जो अभी तक अप्रकाशित है। प्रो० रीज डेविड्स का कहना है कि संस्कृत के 'महाभिनिष्कमण सूत्र' नामक ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद ई० सन् की छठी शताब्दी में हुआ है। ललित बिस्तर के चार अनुवाद चीनी भाषा में हुए हैं। अन्तिम अनुवाद 'हान' वंश के राजा की देख-रेख में ई० सन् की तीसरी शताब्दी में हुआ था।

अश्वघोष के बुद्ध चरित का चीनी अनुवाद धर्म-रक्षक नामक बौद्ध पण्डित ने ई० सन् की पांचवीं शताब्दी में किया था।

लगभग इसी काल में 'लंकावतार' का चीनी अनुवाद सुंगवंशीय राजा की देख-रेख में गुणभद नामक पण्डित ने किया था। महापरिनिव्वाण सुत्त, जातक निदान महावंश आदि ग्रन्थों के अनुवाद भी चीनी भाषा में हो चुके हैं। वज्रच्छे-दिका नामक ग्रन्थ जापानी बौद्धों का बड़ा पूजनीय ग्रन्थ है। जापान में अब भी बौद्ध-धर्म के अनेकों ग्रन्थ हैं। वर्मा में मल्लंगवत्तु नामक एक ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध है। यह एक पाली ग्रन्थ का अनुवाद है।

8

बौद्ध-काल का सामाजिक जीवन

जिस समय बुद्ध का जन्म हुआ था उस समय राजनैतिक और सामाजिक दशा बड़ी विचित्र थी। तमाम देश भर में अन्ध-विश्वास फैले हुए थे। और वर्तमान से लोगों को अनिच्छा और घृणा पैदा हो गई थी। लोग इस प्रकार के महापुरुष की आवश्यकता समझते थे कि जो उनको ठीक मार्ग पर चलावे, जोकि उनके मन को शांति पहुंचावे, समाज के सामने जिसका जीवन आदर्श हो।

इस समय भारतवर्ष तीन भागों में बंटा हुआ था। (1) माहिश्मती क अनुसार एक हिमाचल से विंध्याचल के बीच का देश जो कि सरस्वती के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम में है। और जो कि मध्यदेश कहलाता था। (2) इस मध्यदेश के उत्तर का भाग उत्तरा-पथ कहलाता था और (3) दक्षिण का भाग दक्षिणा-पथ कहलाता था।

उस समय देश में 16 बड़े-बड़े जनपद थे। ये जनपद वास्तव में देश के नाम नहीं बल्कि जातियों के नाम थे और बाद में उनकी जातियों के नाम पर ही देश के भी नाम पड़ गये।

ये प्रत्येक जनपद स्वतन्त्र थे। और उन पर शासन करने वाली कोई भी प्रबल शक्ति नहीं थी।

(1) अंग—जिसकी राजधानी वर्तमान भागलपुर के पास चम्पापुरी थी।

(2) मगध—जिसकी राजधानी राजगृह थी, जो कि पटना से 40 मील पर है।

(3) काशी—जिसकी राजधानी बनारस (काशी) थी।

(4) कोसल—इसकी राजधानी श्रावस्ती नगरी थी, जोकि गुढ़ा और बिहार ज़िले की सीमा पर थी। इस समय जहां पर सहेत और महेत नाम के दो ग्राम हैं वहां थी।

(5) वीज्ज—की राजधानी वैशाली नगरी थी।

(6) मल्ल की राजधानी कुशावती तथा पावा थी।

(7) चेदियों—बुन्देलखण्ड में था। इसकी राजधानी शकियति थी।

(8) वत्स की राजधानी कौशाम्बी थी जो कि वर्तमान इलाहाबाद के आस-पास थी।

(9) कुरुओं की राजधानी दिल्ली के आसपास इन्द्रप्रस्थ थी।

(10) पांचाल राज्य के दो हिस्से थे—उत्तरी पांचाल राज्य और दक्षिणी पांचाल राज्य।

(क) उत्तरी पांचाल राज्य की राजधानी अहिच्छत थी।

(ख) दक्षिणी पांचाल राज्य की राजधानी काम्पिल्य थी।

(11) मत्स्य राज्य में वर्तमान अलवर, जयपुर और भरतपुर राज्यों के हिस्से थे। इसकी राजधानी विराट नगरी थी।

(12) सूरसेन की राजधानी प्राचीन मथुरा थी।

(13) अस्मत्र राज्य की राजधानी पौदन्य थी।

(14) अवन्ति कीं राजधानी माहिष्मती थी।

(15) गान्धार राज्य की राजधानी तक्षशिला थी। जो कि वर्तमान रावल-पिण्डी के पास थी।

(16) कम्बोज राज्य के विषय में मतभेद है। इसकी राजधानी राजपुर थी। कुछ लोगों का कहना है कि वर्तमान तिब्बत ही कम्बोज राज्य था।

ये सब राज्य आपस में लड़ा करते थे। राजनैतिक स्वतन्त्रता का भाव लोगों में फैला हुआ था। प्रत्येक नगर और ग्राम अपना प्रबन्ध अपने हाथों करते थे।

उत्तर भारत में उस समय प्रजातन्त्र राज्य भी था। ये सब प्रजातन्त्र गोरख-पुर आदि प्रांतों में यानी बिहार में फैले हुए थे। इन सब में महत्वपूर्ण राज्य विदेह, लछवियों का राज्य है। विदेह और लछवी आपस में मिल गए थे। और मिलकर वह विज्जी कहलाते थे।

शाक्यों का राज्य उत्तर से दक्षिण तक फैला हुआ था। उनकी राजधानी कपिलवस्तु थी। इनकें कुल राज-काज एक-एक बड़ी भारी सभा के आधीन थे। प्रत्येक बूढ़े और जवान अपने राज्य के प्रबन्ध में भाग लेते थे। सब लोग एक सभापति को चुनते थे। वह राजा कहलाता था। विज्जियों के प्रजातन्त्र में आठ भिन्न-भिन्न जातियां सम्मिलित थीं। लछवी तीन लोगों को चुनकर उनके हाथ में राज्य सौंप देते थे। उनकी एक महासभा थी जिसमें कि सब लोक शरीक हो सकते थे। इन सभासदों की संख्या 7707 दी गई है। इस सभा के जो सभासद होते थे वह राजा कहलाते थे। वह केवल कानून बनाने में राय ही नहीं देते थे किन्तु उन पर सबको अमल करवातें थे। इन प्रजातन्त्र राज्यों का बुद्ध के जीवन पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। बुद्ध शाक्यों के प्रजातन्त्र पैदा हुए थे। उनके पिता शुद्धोधन इस प्रजातन्त्र के मुखिया थे।

बुद्ध ने जब अपने भिक्षु-संघ का संगठन किया तब उसको इन राज्यों से बड़ी भारी सहायता मिली थी।

युद्ध के पहले आर्यों में बड़ा भारी मतभेद था। लेकिन उस समय क्षत्रियों का दर्जा सबसे श्रेष्ठ था, उनका मान भी बहुत अधिक था। उनके बाद ब्राह्मणों का दर्जा था। और ब्राह्मणों के बाद वैश्यों का और फिर शूद्रों का। बौद्ध जैन ग्रन्थों में क्षत्रियों के उत्कर्ष का बहुत वर्णन है। यद्यपि ब्राह्मणों के ग्रन्थों में जो कि लगभग उसी काल में बने हुए हैं, ब्राह्मणों का दर्जा सबसे बड़ा बताया गया है। लेकिन बौद्ध और जैनियों के ग्रन्थों को देखने से इस बात का भेद खूब खुल जाता है।

इससे 500-600 वर्ष पूर्व ब्राह्मणों में और क्षत्रियों में बड़ा भारी संघर्ष हुआ था। दोनों एक-दूसरे से बढ़ जाना चाहते थे। इस समय जो बौद्ध और जैन ग्रन्थ लिखे गए उनमें ब्राह्मणों का खण्डन और क्षत्रियों का पक्ष लिया गया था। इसमें तो कोई शक नहीं, कि उस समय क्षत्रिय विद्या, बुद्धि, बल, तप और तेज में ब्राह्मणों से बहुत आगे बढ़ गए थे। जैनियों के कल्प-सूत्र नाम के ग्रन्थ में तो यहां तक लिखा हुआ है कि अर्हित जैसे महापुरुष ब्राह्मण जाति, वैश्य जाति, जैसी नीच जातियों में पैदा नहीं होते, अर्हित, तीर्थंकार या बुद्ध का जन्म तो क्षत्रिय जैसी महान् जाति में ही हुआ है और होगा। जातक ग्रन्थों में और भी अनेक जातियों का वर्णन मिलता है। जातक कथाओं के पढ़ने से मालूम होता है कि उस समय अछूत भी थे और उनके साथ बुरा व्यवहार भी किया जाता था।

एक जातक ग्रन्थ में लिखा है कि—एक बार ब्राह्मण और वैश्यों की दो स्त्रियां नगर के फाटक से बाहर निकल रही थीं तो रास्ते में उनको दो चाण्डाल मिले। वे उनके दीखने को अपशकुन मान घर को लौट गई। इसके बाद लोगों ने उन चाण्डालों को बुरी तरह पीटा और उनकी खूब दुर्गति बनाई।

मातंग जातक और सद्धम जातक को देखने से भी यह पता चलता है कि उस समय अछूतों के साथ बड़ा बुरा बर्ताव किया जाता था। इसलिए बुद्ध ने ज्यों ही अछूत और नीच जातियों को अपने मत में लिया और उनको बड़े-बड़े जिम्मेदार तथा सम्मान के पदों पर नियुक्त किया तो सब जनता बुद्ध के पीछे हो गई। इस समय भी जाति विरोध तथा कट्टरता थी किन्तु एक दूसरी जाति के अन्दर विवाह हो जाता था। और इस तरह के विवाहों में जो सन्तान होती थी वह अपने पिता के पक्ष में गिनी जाती थी। परन्तु लोग दूसरे वर्णों की अपेक्षा अपने वर्ण में ही विवाह करना अधिक पसन्द करते थे। इस समय लोग इतर जाति के और इतर वर्णों के भी काम करते थे। ब्राह्मण खेती करते थे। खाती, माली तथा दर्जी आदि का भी काम करते थे। क्षत्रिय लोग भी सब तरह के काम करते थे। एक क्षत्रिय का तो यहाँ तक वर्णन है कि वह कुम्हार का काम करता था।

बुद्ध के जन्म के समय सबसे बड़ी भयानक बात तो यह थी कि यज्ञ में पशु-वध होता था। यज्ञ जैसे पवित्र कर्म में यज्ञ वेदी को पशुओं के खून से लाल किया जाता था। यह इस आशय से नहीं किया जाता था कि यज्ञमान का इससे कुछ भला हो। किन्तु यह पुरोहितों का खास काम था और यजमानों को यज्ञ करने के लिए उत्साहित करते थे। बिना दान और दक्षिणा के यज्ञ अधूरा समझा जाता था। तमाम समाज में कर्म कांड के बनाये हुए आडम्बर फैले हुए थे। लोग अन्धेरे में थे और वह एक प्रकाश को चाह रहे थे। यज्ञ के कर्त्ता का प्रभाव समाज पर बहुत बुरा पड़ता था। एक तो पशु-वध से लोगों के हृदय क्रूर और कठोर बनते जा रहे थे। इन यज्ञों में बहुत-सा धन नष्ट होता था। ब्राह्मणों को बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ दी जाती थीं। स्वर्ण, चांदी आदि दान में दिये जाते थे। बहुत से यज्ञ ऐसे होते थे कि जिनमें साल-साल भर लग जाता था और उनमें हजार-हजार आदमी रहते थे। इसलिए बड़े-बड़े धनवान ही यज्ञ करा सकते थे। चूंकि यज्ञ ही एक महान् धर्म समझा जाता था इसलिए दीन-हीन, दरिद्री, निर्धन, कंगालों के लिए धर्म के तमाम शिष्टाचार बन्द थे।

यज्ञ के अलावा दूसरा अन्ध-विश्वास यह फैला हुआ था कि योग से सिद्धियों की प्राप्ति की जा सकती है। लोग बहुत बड़ी तपस्याएँ किया करते थे। महीने-महीने तक उपवास किया करते थे और यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी। कष्ट-सहन का अभ्यास उनको इस कदर हो गया था कि वह भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी की कुछ परवाह नहीं करते थे।

बुद्ध भी जब सत्य मार्ग की तलाश में चले थे, तब उन्होंने छः महीने तक कठिन तपस्या की थी और अन्त में इन्हें इसकी असारता मालूम हो गई।

यज्ञ और योग इनके अलावा एक तीसरा मार्ग भी था, जो कि ज्ञानमार्ग कहलाता था। बहुत से बैखानस भिक्षु तथा संन्यासी एक जगह से दूसरी जगह विचरा करते थे। उनके ठहरने के लिए बड़े-बड़े राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार लोग नगर से बाहर बड़े-बड़े मकान बनवा देते थे। पंचायती चन्दे से भी उनके लिए कुछ प्रवन्ध हुआ करता था। वह लोगों को दार्शनिक और धार्मिक विषयों पर व्याख्यान सुनाया करते थे। यदि कोई दूसरा परिव्राजक वहां ठहरा हुआ होता तो उनसे शास्त्रार्थ छिड़ जाता था। उन लोगों में स्त्रियां भी थीं। प्रचलित संस्थाओं से उनका कोई क्रम नहीं था। वह लोग घर-बार, माता-पिता, धन-दौलत, स्त्री, पुत्र कलत्र आदि सब-कुछ त्यागकर संन्यासी बन गये थे। वह लोग प्रचलित प्रणालियों और बुराइयों की खूब बुराइयां करते थे। और प्रचलित धर्मों के विश्वास की जड़ को खोखली कर देते थे। इस प्रकार उन परिव्राजकों ने जमीन तैयार कर दी थी; जिस पर बुद्ध ने तत्काल ही बीज बो दिया। ये लोग उपनिषदों के तत्वों का ममन करते थे और इस बात पर विचार करते थे कि सब जीवित और जड़ वस्तुएं एक

परमेश्वर से पैदा हुई हैं, वे लोग पुनर्जन्म को भी मानते थे और उनके अन्दर अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत के भी भाव चल निकले। इसका परिणाम यह हुआ कि षड्-दर्शनों की सृष्टि हुई। जिस समय षड्दर्शनों की उत्पत्ति हुई, उस समय वुद्ध का जन्म हुआ था। वुद्ध के जन्म के समय लगभग बहत्तर प्रकार के दार्शनिक सम्प्रदाय थे, जो कि षड्दर्शनों के अन्तर्गत थे। लेकिन दो सिद्धान्त सबसे प्रबल थे। एक तो सांख्य था, जो कि आत्मा और प्रकृति में भेद मानता था और दूसरा वेदान्त था। जो कि आत्मा और प्रकृति में अभेद मानता था। लेकिन ये सब संन्यासी आत्मा और प्रकृति के भेदाभेद के सूखे वितण्डावाद में पड़े हुए थे। वह संसार का कोई कल्याण नहीं कर सकते थे।

इस प्रकार बुद्ध के जन्म के पहले हिन्दुओं में यज्ञ, तप और दार्शनिक ये तीन प्रकार के जीवन थे। इनकी खूब प्रबलता थी जरूर, लेकिन इनसे मनुष्य के वर्त-मान जीवन का कोई सम्बन्ध नहीं था। मनुष्य का दु.ख दर्द किस तरह दूर हो सकता है, इसका कोई भी सच्चा उत्तर नहीं था।

लेकिन बुद्ध ने सच्चे सुख को प्राप्त करने का उपाय बतलाया। उन्होंने हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों से बचने का उपदेश दिया और कहा कि चाहे जो कोई किसी भी जाति का हो, वह सदाचार से और पवित्र जीवन से निर्वाण को प्राप्त कर सकता है और यही कारण था कि बुद्ध का धर्म बहुत ही आसानी से उस काल में विस्तार पा गया।

बौद्ध-काल में भारत की आर्थिक दशा का कुछ पता बौद्धों के जातक ग्रन्थ, त्रिपिटक ग्रंथ और यूनानियों के अर्थशास्त्र में देखने को मिलता है। जातक के देखने से मालूम होता है—जमीन के मालिक किसान ही होते थे। जमींदारों की प्रथा ही नहीं थी। किसान से राजा, साल में एक बार उपज का दसवां हिस्सा लेता था। कोई किसान मर जाता और उसके पीछे यदि कोई नहीं होता तो उसका मालिक राजा होता था। जो जमीन बोई नहीं जाती थी, उसका मालिक भी राजा ही होता था। किसी-किसी अवसर पर किसान लोग राजा को भेंट दिया करते थे। इस काल में राजा लोगों को शिकार का बहुत ही शौक होता था। इसलिए हरेक गाँव वालों को चरागाह छोड़ना पड़ता था। राजा जो उपज का दसवां हिस्सा कर लिया करता था, उसको गांव का मुखिया और राजा का मन्त्री मिलकर तय किया करते थे। कभी-कभी राजा इस कर को साफ भी कर दिया करता था, अथवा किसी धार्मिक संघ के नाम कर दिया करता था। बौद्ध-काल में कुछ राज्य प्रजातन्त्र भी थे और कुछ गणतन्त्र भी। उस समय में किस तरह कर उघाया जाता था, इसका ठीक-ठीक वर्णन नहीं मिलता। लेकिन अशोक के एक स्तम्भ से मालूम होता है कि शाक्यों के प्रजा-तन्त्र में यह कर लिया जाता था, क्योंकि अशोक ने लुम्बुनी नामक एक ग्रामका कर माफ कर दिया था, क्योंकि उसके आस-

पास भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। शाक्यों के मल्लों के लच्छिवियों के और को लिए के प्रजातन्त्र और गणतन्त्र उस समय थे। गांव में लोग एक साथ मिलकर रहते थे। घर एक-दूसरे से अड़े हुए होते थे। गलियां बहुत ही संकरी होती थीं। आमतौर से 30 से लेकर 100 कुटुम्ब तक एक ग्राम में रहते थे। गांव कई प्रकार के होते थे। एक जनपद ग्राम कहलाता था, जो कि नगर के पास था। कुछ ग्राम प्रत्यन्त कहलाते थे, जो कि सीमा के पास होते थे। गांव के चारों तरफ चरागाह होते थे। चरागाहों में सब लोग अपने-अपने पशु चरा सकते थे और अपनी जरूरत के माफिक लकड़ी काट सकते थे। गांव में जुलाई व बोवाई एक साथ होती थी। जब खेत कट जाते तो उसमें पशु चरने के लिए छोड़ दिये जाते थे। लेकिन जब फसल रहती, तब पशुओं को ग्वाले ले जाते थे। फसल की सिंचाई के लिए पंच व मुखिया कुएँ, बावड़ी, तालाब आदि खुदवाते थे और सबको पानी गांव के मुखिया की देख-रेख गें मिलता था। किसान अपने खेतों के चारों ओर मेंढ़ नहीं बनवा सकते थे, गाँव के कुल खेतों के चौतर्फा एक मेंढ़ होती थी। अन्दर सबके खेत अलग-अलग थे। गांव में सब कुटुम्बों का हिस्सा बराबर-बराबर था। मतलब यह है कि जितने कुटुम्ब होते थे, उतने ही हिस्से होते थे। फसल कट जाने पर हरेक कुटुम्ब अपना-अपना हिस्सा ले जाता था। कोई किसान अपनी जायदाद को नहीं बेच सकता था - यदि ऐसा मौका पड़ भी जाता, तो पंचों की इजाजत लेनी पड़ती थी। कोई किसान वसीयतनामा भी नहीं लिख सकता था।

9

बौद्ध-धर्म में स्त्रियों का स्थान

बुद्ध भगवान् ने यद्यपि स्त्रियों को अपने संघ में स्थान दिया था और पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी भिक्षुणियाँ बन सकती थीं। परन्तु वास्तव में बौद्ध-सम्प्रदाय का मूल-तत्व स्त्रियों को पुरुषों से दूर रहने में ही था; क्योंकि बौद्ध-धर्म में त्याग और वैराग्य का स्थान मुख्य है, भोग का नहीं। बौद्ध ने स्त्रियों की निन्दा तो नहीं की, परन्तु बराबर यह सलाह दी है कि लोग स्त्रियों के खतरे से बचे रहें और जहां तक सम्भव हो, स्त्रियों से दूर रहें। उनके विचार में आदर्श जीवन वह है कि स्त्रियों से अलग रहकर और सम्भव हो तो किसी भी दशा में उनसे न मिलकर अपना जीवन व्यतीत किया जाए। स्त्रियों के सम्बन्ध में एक बार बुद्ध ने अपने प्रमुख शिष्य आनन्द से कहा था।

आनन्द ने प्रश्न किया—"भगवन्! स्त्रियों के विषयों में कैसा व्यवहार करें?"

बुद्ध ने कहा—"उन्हें देखो मत आनन्द।"

आनन्द ने कहा—"परन्तु यदि उन्हें देखना पड़े तब?"

बुद्ध—"बहुत सावधान रहो आनन्द।"

फिर भी बुद्ध ने अपने साधारण अनुयाइयों और गृहस्थियों के प्रति यह उपदेश किया था कि जहाँ तक हो अपनी स्त्रियों को अपना मित्र समझो और उन पर विश्वास रखो। साधारण भक्तों को यह उपदेश दिया कि माता-पिता की सेवा, पत्नी और बच्चों का सहवास तथा शांतिपूर्ण उद्योग ही सबसे बड़ा आशीर्वाद है।

बौद्ध-धर्म में जहाँ पति-पत्नी के सम्बन्ध और उनके व्यवहार के लिए अनेकों नियमोपनियमों की चर्चा की गई है वहाँ पत्नी के लिए पति की आज्ञा पालन का कोई जिक्र ही नहीं है। पतियों के लिए जरूर आदेश है कि वे अपनी पत्नियों के विश्वास पात्र रहें, उनका आदर करें और उन्हें यथोचित वस्त्राभूषण प्रदान करें। पत्नियों को पतिव्रता धर्म के पालन की ओर मितव्ययी बनाने की शिक्षा दी है। स्त्रियों को यह भी कहा है कि वे अपने घरेलू कार्यों में बुद्धिमत्ता और उद्योग-

शीलता दिखावें। परन्तु उनका सबसे बड़ा भारी सिद्धान्त तो यह है कि अविवाहित जीवन ही मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा श्रेय है। एक बार उन्होंने कहा है कि बुद्धिमान् मनुष्य को विवाहित जीवन से यह ख्याल करके डरना चाहिए मानो वह एक आग से जलती हुई कोयले की खान है। और उन्होंने यह भी कहा है कि जो आदमी घर में रहता है वह कैसे विशुद्ध जीवन व्यतीत कर सकता है।

इन सब बातों से पता चलता है कि बुद्ध अविवाहित जीवन को तो सबसे श्रेष्ठ समझते ही थे लेकिन गृहस्थियों के लिए भी उन्होंने ऐसे नियम बनाये थे कि वे एक-दूसरे को परस्पर अपना मित्र समझें, परस्पर एक-दूसरे का आदर करें और परस्पर एक-दूसरे का विश्वास करें।

माता के प्रति बुद्ध भगवान् का आदर बहुत उच्च है। बुद्ध स्त्रियों को भी पुरुष की भाँति भिक्षुणियाँ बनाते थे और बौद्ध-धर्म के अनुसार स्त्रियों को निर्वाण प्राप्त करने का उतना ही अधिकार है जितना कि पुरुषों को। इतिहास बतलाता है बुद्ध के जीवन काल में 73 स्त्रियों ने और 107 पुरुषों ने निर्वाण प्राप्त करके मानव-जीवन के विकास की चरम सीमा तक पहुँचने का प्रयत्न किया था। जब बुद्ध-धर्म का प्रसार हो रहा था तब स्त्रियों ही ने सबसे अधिक आर्थिक सहायता की थी। बुद्ध ने विशाखा आदि स्त्रियों की बहुत प्रशंसा की है। एक स्त्री की प्रशंसा करते हुए बुद्ध ने कहा है—"यह महिला सांसारिक वातावरण में रहती है—और राजरानियों की कृपापात्री है, तो भी इसका हृदय स्थिर और शांत है। अवस्था युवा और धनी तथा ऐश्वर्य से घिरी हुई है फिर भी यह कर्त्तव्य-पथ में अविचल और विचारशील है। यह इस संसार की दुर्लभ चीज है।

एक और महिला के सम्बन्ध में कि जिसने बुद्ध को अपने हाथों से भोजन कराया था। इस स्त्री के सम्बन्ध में बुद्ध ने कहा है—"एक उत्तम धार्मिक महिला जो भूखों को भोजन देती है, वह उसे भोजन के साथ चार चीजें देती है—(1) वह जीवन-शक्ति देती है, (2) वह सौन्दर्य प्रदान करती है, (3) वह आनन्द देती है, (4) वह बल देती है।

जीवन-शक्ति देने से वह माननीय और दैवी जीवन शक्ति की, सौन्दर्य देने से सौन्दर्य की, आनन्द देने से आनन्द की और बल देने से मानवीय और दैवी बल की साझीदार बन जाती है।

जिस काल में बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार किया था। उस काल में स्त्री-जाति की सामाजिक स्थिति बहुत हीन हो गई थी। यह बुद्ध ही का साहस था उसने कहा—"निर्वाण की प्राप्ति न केवल ब्राह्मण को ही होनी है परन्तु मनुष्यमात्र को प्राप्त हो सकती है और स्त्रियों को भी हो सकती है। यह वही समय था जिसमें कि "स्त्री शूद्रों नाधीयताम्" की आवाज ऊँची थी। और स्त्रियों का कोई सामाजिक स्थान ही नहीं था।

बुद्ध की माता और स्त्री ने बुद्ध को इस पर आग्रह किया था कि भिक्षुओं की तरह भिक्षुणियों का भी एक संघ बनाया जाए । बुद्ध यद्यपि स्त्रियों को अपने धर्म से अलग ही रखना चाहते थे । किन्तु वे इस बात का विरोध नहीं कर सके । लेकिन जब उन्होंने संघ में स्त्रियों को ग्रहण करना शुरू कर दिया तो उन पर भिक्षुओं का कड़ा नियन्त्रण था । उन्हें उपदेश सुनने के लिए भिक्षुओं के पास जाना पड़ता था ।

बुद्ध ने यह भी एक भविष्य वाणी की थी—

"स्त्रियों को संघ में सम्मिलित करने का परिणाम यह होगा कि 500 वर्षों के भीतर लोग धार्मिक नियमों को भूल जायेंगे । उन्होंने स्पष्ट कहा था—"किसी भी मत सिद्धान्त का अनुशासन के अनुसार जहां स्त्रियों को गार्हस्थ जीवन से निकाल कर गृह विहीन दशा में रहने की आज्ञा दे दी गई वह धर्म या मत अधिक समय तक नहीं ठहर सकता ।" निस्सन्देह यह बुद्ध का एक विवेचना पूर्ण सिद्धान्त था । लेकिन बुद्ध-धर्म के प्रचार में स्त्रियों ने जो त्याग और अव्यवसाय किया उसको देखकर आश्चर्य चकित रह जाना पड़ता है । बुद्ध की मृत्यु के दो-तीन सौ वर्ष बाद सम्राट् अशोक ने बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए बहुत बड़े भारी काम किये । उन्होंने अपने पुत्र और पुत्री को लंका भेजकर एक संघ की स्थापना की और वहां पुरुषों के साथ स्त्री भिक्षुणियों का भी एक छोटा-सा दल बनाया था ।

जब अशोक ने पाटलीपुत्र में बौद्धों की एक सभा की उस समय इस संघ के नियम और उपनियमों का संशोधन किया । जिसमें भिक्षु भिक्षुणियां, गृहस्थ ये दोनों ही अंग धर्म की विशुद्ध आज्ञा को विषयंगम किया करते थे ।

यद्यपि बौद्धों का धर्म निरीश्वरवादी था, किन्तु आगे जाकर बौद्धों के धर्म के अन्दर देवों की पूजा का स्थान भी हो गया । बौद्धों ने कई मन्दिर बनवाये । लंका में बौद्धों की एक देवी का मन्दिर है, जिसे पट्टनिका का मन्दिर कहते है ।

जब बौद्ध-धर्म का ह्रास हो रहा था । इस देवी पूजा का प्रभाव उत्तर कालीन बौद्ध चरित्र पर बहुत पड़ा है । और इस का ही यह कारण है कि बौद्ध स्त्रियों के अन्दर दया, क्षमा, त्याग और आदर के भाव बहुत उच्च कोटि तक पहुंच गये हैं । आज ब्रह्मा के अन्दर स्त्रियों में त्याग और दया की भावनाएं बहुत बढ़ी-चढ़ी देखी जाती हैं । कुछ बौद्ध भिक्षुणियें बहुत प्रसिद्ध हुई हैं—जिनमें क्षेमा, आम्रपाली और विशाखा ये बहुत ही प्रसिद्ध हैं । महवेश्या भी एक बड़ी भारी बौद्ध भिक्षुणी हुई हैं । इन स्त्रियों का नाम त्याग, दया, क्षमा, ज्ञान और तप के कारण अमर हो गया है । विदेशी इतिहासज्ञों तक ने इनकी बारम्बार प्रशंसा की है । और बौद्ध-धर्म के प्रचार में इन्हीं स्त्रियों का सबसे बड़ा भारी हाथ रहा था आप भवभूति के प्रसिद्ध नाटक मालती माधव को पढ़िये । उसकी प्रधान पात्री मालती का विवाह उसके प्रेमी माधव के साथ एक बौद्ध भिक्षुणी कराती है । और वह भिक्षुणी योग सिद्धान्तों

का और अपनी जादू की विद्याओं का भी चमत्कार बताती है।

तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रचार दो राजकुमारियों ने किया था। उन्होंने तिब्बत की राजधानी ल्हासा में बहुत से मन्दिर बनवाये और अनेक मठों की स्थापना की है। चीन और जापान से अनेकों विचित्र-विचित्र प्रकार की अद्भुत मूर्तियां लाकर वहां स्थापित कीं जो आज भी उन अद्भुत मूर्तियों में बौद्ध-धर्म की प्राचीन चतुराई, बुद्धिमत्ता और शिल्प विद्या की उत्कृष्टता अंकित है।

वर्तमान मनुस्मृति जो कि बुद्धकाल में बनाई गई, एक काल्पनिक और जाली पुस्तक है। उसमें वर्णित स्त्री-धर्म को देखा जाए तो हमें मालूम होगा कि इसमें स्त्रियों की प्रतिष्ठा का केवल ढोंग किया गया है। यह पुस्तक स्त्रियों को पूजा करने की चीज जरूर बताती है परन्तु मनु के मन में स्त्रियों की पूजा वैसी ही है जैसी कि वर्तमान समय के हिन्दुओं की गौ पूजा। वे उन्हें कसकर रस्सी से बांधते हैं, सड़ा और गंदा भूसा खाने को डालते हैं और जब दूध दोहने का समय आता है तो उसके बछड़े को बलपूर्वक उसके स्तनों से छुड़ा देते हैं। और तमाम दूध निकाल लेते हैं। कहने को तो वे गौ-माता की पूजा करते हैं; परन्तु यह पूजा परले दर्जे का अत्याचार है। ठीक इसी तरह मनु ने स्त्रियों की पूजा बताई है। वह साफ-साफ कहते हैं कि स्त्रियों को अपने पति की पूरी तरह से आज्ञा माननी चाहिये।

परन्तु बौद्ध-धर्म उदारता पूर्वक स्त्रियों को पुरुषों के बराबर का दर्जा देता है और वह बतलाता है कि स्त्री और पुरुष को एक मित्र की भांति रहना चाहिए। और यह आज्ञा देता है कि एक दूसरे को ऊंच-नीच नहीं समझे।

ईसाइयों का रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय भी स्त्रियों की स्वतन्त्रता का पक्ष लेता है, परन्तु महान् धर्माध्यक्ष पाल के धर्म-पत्रों में यह बात साफ तौर से लिखी हुई है कि स्त्रियों को पुरुषों के अधीन ही रहना चाहिए। यदि आप रोमन कैथोलिक के आदेशों को पढ़ेंगे तो आपको इस बात पर पूर्ण विश्वास हो जाएगा।

इसलिए हम खुले तौर से कह सकते हैं कि जिस काल में सब जातियां स्त्रियों को अपना गुलाम बनाने में लगी हुई थीं, उस काल में बुद्ध ने उनका पतित दशा से उद्धार और पूर्ण रूप से सुधार किया। न केवल सामाजिक जीवन में बल्कि धार्मिक जीवन में भी स्त्रियों को पुरुषों के बराबर दर्जा दिया। बौद्धों के धर्म का विश्व-व्यापक होने का एक मूल कारण यह भी हो सकता है।

आज यद्यपि बौद्ध-धर्म लगभग नष्ट हो गया है, परन्तु जिन देशों में बौद्ध-संस्कृति है, तिब्बत, चीन, जापान, लंका, जावा, सुमात्रा और ब्रह्मा; उन देशों में स्त्रियों की स्वतन्त्रता उन देशों की स्त्रियों की स्वतन्त्रता से कहीं अधिक है, जिन पर कि प्राचीन हिन्दू-धर्म का प्रभाव है। इन देशों के माता-पिता, भाई-भौजाई, प्रेमी और प्रेमिका आपस में अच्छी तरह आजादी से बेरोक-टोक मिलते

हैं। वहां माता-पिता कन्याओं का विवाह नहीं करते। कन्याएं दान में नहीं दी जातीं। न वहां पर्दे की चहारदीवारी है। बौद्ध-धर्म ने स्त्रियों को जो स्वतंत्रता दी है, उसका चमकता हुआ उदाहरण ब्रह्मा में मिलेगा। वहां जितनी आजादी स्त्रियों को है, शायद दुनिया के पर्दे में उतनी किसी देश में भी नहीं है। वहां की स्त्रियों की कार्यक्षमता, उद्योग-शीलता और बुद्धिमत्ता पुरुषों से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है।

बर्मीज विवाह को कोई धार्मिक कृत्य नहीं मानते, किन्तु वहां विवाह प्रेम, साहचार्य, सद्भाव और सद्धर्म की दृष्टि से होता है। वहां सच्चे अर्थ में पति और पत्नी एक-दूसरे के सहचर हैं। अगर उनके परस्पर का प्रेम और सद्भाव नष्ट हो जाता है तो उनके दूसरे सम्बन्ध भी छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, कोई धार्मिक बन्धन उनको बलपूर्वक बांधकर नहीं रख सकते। यद्यपि वहां की स्त्रियों को तलाक का पूर्ण अधिकार है, परन्तु इस किस्म के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। वहां स्त्री-पुरुषों के कानून सम्बन्ध में भी कोई भेद-भाव नहीं है। ब्रह्मा का लगभग आधा व्यापार स्त्रियों से चल रहा है। स्त्रियों की व्यापारिक बुद्धि पुरुषों से कहीं अधिक चमकती हुई है।

10

महान् बुद्ध सम्राट् अशोक

मौर्यवंश का यह प्रबल प्रतापी सम्राट् भारत का एक ऐसा प्रबल अस्तित्व है, जो पृथ्वी की स्मृति से कभी दूर न होगा। आज से लगभग 2250 वर्ष पूर्व यह प्रतापी पुरुष मगध के सिंहासन पर विराजमान हुआ। बौद्ध-ग्रन्थों में जो सम्राट् के बाल्यकाल का इतिहास है, यह अप्रमाणिक है। सम्राट् होने से प्रथम उन्हें इनके पिता बिम्बसार ने पश्चिमोत्तर प्रदेश का मण्डलेवर (गवर्नर) बना दिया था। इस प्रान्त का मुख्य नगर तक्षशिला था, जो समस्त एशिया और यूनान में लब्ध-प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय था। जिसका उल्लेख पृथक् किया गया है। महाकौटिल्य चाणक्य यहीं के विद्यार्थी थे। इसलिए एक तो विद्या का केन्द्र होने से, दूसरे राजनीति सीमा होने से यह स्थल पृथ्वी-भर की महाजातियों के आवागमन का माध्यम नगर बन गया था। यहां रहकर अशोक ने बहुत दुर्लभ सत्संग प्राप्त किया। इसके पश्चिम में यवन साम्राज्य था, उत्तर में अदम्यं जंगली जातियां थीं। और उत्तर पूर्व में चीन-साम्राज्य था। अतः अशोक को ऐसे नाजुक स्थल पर ऐसे उत्तरदायित्व के पद पर रहने से अपनी नीतिमत्ता, शासनपटुता और विकास का बड़ा अवसर मिला।

यहां से अशोक मध्य भारत के मण्डलेवर बनाकर भेज दिए गए; जिसकी राजधानी उज्जैन थी। उज्जैन उन दिनों महानगरी थी। कालिदास के मेघदूत और विशाखदत्त के मृच्छकटिक नाटक में इस नगर की आश्चर्यजनक श्री वर्णन की गई है। उसकी गिनती 7 महातीर्थों में थी। यहां भी प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था। यहां पर श्रीकृष्ण ने शिक्षा प्राप्त की थी। यह भौगोलिक स्थिति का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। आर्य ज्योतिषी अब तक देशान्तर रेखाओं की गणना उज्जैन से करते हैं। फिर उसके व्यापार केन्द्र का क्या ठिकाना था—पश्चिमीय सभी समुद्रतटस्थ नगरों का व्यापार इसी स्थान से होता था।

तक्षशिला में रहकर जहां अशोक को अन्तर्जातीय व्यवहार, विदेशी नीति आदि का ज्ञान हुआ, वहां उज्जैन में व्यापार शिल्प और घरेलू प्रबन्ध की बातें

सीखने का बड़ा सुयोग हाथ लगा। अशोक का अभिषेक 2832 युधिष्ठिराब्दि में हुआ था। राज्यारोहण के बाद 9 वर्ष तक अशोक ने कोई बड़ा कार्य न किया अशोक के काल में मांसाहार का बड़ा प्रचार था। सहस्रों जीव राज-भोजन के लिए काटे जाते थे। अशोक जब जीव हत्या से घृणा करने लगा था, तब भी उसकी रसोई में 3 जीव, दो मोर, 1 मृग नित्य कटते थे, जो पीछे बन्द हो गए।

अभिषेक के नवें वर्ष अशोक ने कलिंग पर आक्रमण किया। इस समय अशोक का शासन समस्त उत्तर-भारत में और दक्षिण में मैसूर तक फैला हुआ था। कलिंग—जो बंगाल की खाड़ी के किनारे-किनारे महानदी गोदावरी के बीच में था और राजनैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था—स्वतन्त्र था। इस युद्ध में कलिंग राज 60 हजार पैदल, 1000 सवार और 700 हाथी लेकर आया था। यह युद्ध देर तक होता रहा। अन्त में वह साम्राज्य में मिल लिया गया। इस युद्ध में डेढ़ लाख मनुष्य कैद किये गये थे, और 1 लाख वध किये गए। बहुत-से यों-ही मर गए। इस महान् नर-हत्या से सम्राट् का हृदय हिल गया। इसी समय उपगुप्त बौद्ध-भिक्षु से भेंट हुई, और उन्होंने महामना तिष्य पुत्र मौगली के आदेशानुसार उसे बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया। वे बौद्ध हो गए। पहले उपासक हुए, फिर संघ के सदस्य हुए; इसके बाद यह प्रबल प्रतापी सम्राट् ऐसा प्रसिद्ध धर्मार्थ हुआ, जिसके जोड़ का कोई दूसरा व्यक्ति नहीं।

अशोक ने, उसकी धर्माज्ञायें—जो समय-समय पर उसने प्रचारित की थीं—गुफाओं, स्तम्भों और शिला-खण्डों पर खुदवाई हैं। इनकी भाषा प्राकृत है। उन धर्माज्ञाओं से अशोक साम्राज्य का विस्तार और उस सम्बन्ध की बहुत-सी बातों का ज्ञान होता है।

इनमें से 14 धर्म लेख सीमा प्रांतों के विभिन्न स्थानों पर मिली हैं, जो अभिषेक के 13-14 वर्ष बाद से लिखी गए थे। इन्हें चतुर्दश शिलालेख कहते हैं। वे धर्म लेख नीचे लिखे स्थानों पर मिले हैं—शहबाजगढ़ी (पेशावर (पाकिस्तान) से 20 मील उत्तर-पूर्व कोण यूसुफ जाइयों के सूबे में), मानसेहल (पाकिस्तान पंजाब) के हजारा प्रान्त में), सोपारा (बम्बई के थाना जिले में), गिरनार (काठियावाड़ के जूनागढ़ राज्य में), धौली (ओड़ीसा के कटक जिले में), मेरी गुडी (आंध्र के कुर्नूल जिले में), इनके सिवा लघु, गुफालेख, स्तम्भ-लेख, शिला-लेख मैसूर, बंगाल मध्यप्रदेश और राजपूताना आदि में भी पाये गए हैं। जो अभिषेक के 38 वर्ष बाद तक के मिलते हैं। इनमें '256' अंक मिलता है, जो बुद्ध की मृत्यु का अंक है। इसके अतिरिक्त कई स्तम्भ, लेख आदि और भी हैं। इन लेखों में कुछ चतुर्दश सूचना के स्थान धर्म लेख है—नीचे दिये जाते हैं। इनसे अशोक की धर्म और नीति के बारे में पता लगता है।

धर्मलेख-1

यह सूचना देवताओं के प्यारे राजा पियदसी की आज्ञा से खुदवाई गई हैं। यहां इस पृथ्वी पर कोई किसी जीवधारी जन्तु को बलिदान अथवा भोजन के लिए न मारे। राजा पियदसी ऐसे भोजन में बहुत-से पाप देखता है। पहले ऐसे भोजन की आज्ञा थी, और देवताओं के प्रिय राजा पियदसी के रसोई-घर में तथा भोजन के लिए प्रतिदिन हजारों जीव मारे जाते थे। जिस समय यह सूचना खोदीजा रही है, उस समय उसके भोजन के लिए केवल तीन जीव अर्थात् दो पक्षी और 1 हिरन मारे जाते हैं, और उनमें से हिरन नित्य नहीं मारा जाता। भविष्यत् में ये तीनों जीव भी नहीं मारे जाएंगे।

धर्मलेख-2

देवताओं के राजा पियदसी के राज्य में सर्वत्र और सीमा प्रदेश में रहने वाली जातियों तथा चोलुपण्ड्य, सत्यपुत्र और केरलपुत्र के राज्यों में ताम्रपणि तक, यूनानियों के राजा एबिट, ओकस और उसके आस-पास के राजाओं के राज्य में सर्वत्र देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने दो प्रकार की औषधियों के दिए जाने का प्रबन्ध किया है अर्थात् मनुष्यों और पशुओं के लिए औषधि। जहां कहीं मनुष्यों और पशुओं के लिए लाभदायक पौधे नहीं होते, वहां वे ले जाकर लगाये गए हैं, और सर्वसाधारण के मार्गों में मनुष्यों और पशुओं के लिए कुएं खुदवाये गये हैं।

धर्मलेख-3

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने इस भांति कहा। अपने राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में मैंने इस प्रकार आज्ञायें दीं। मेरे राज्य में सर्वत्र धर्मयुत, राजुक और नगरों के राज्याधिकारी पांच वर्ष में एक बार एक सभा (अनुसम्यान) में एकत्रित हों और अपने कर्तव्य के अनुसार इस प्रकार धर्म की शिक्षा दें—

"अपने पिता, माता, मित्रों, संगियों और सम्बन्धियों की धर्मयुत सेवा करना अच्छा और उचित है।" तब राजुक धर्मयुतों को मन और वाक्य से विस्तार-पूर्वक शिक्षा देगा।

धर्मलेख-4

प्राचीन समय में कई सौ वर्षों तक जीवों का वध, पशुओं पर निर्दयता, संबंधियों के सत्कार का अभाव और ब्राह्मणों और श्रामनों के सत्कार का अभाव चला आया है, परन्तु आज राजा पियदसी ने, जो देवताओं का प्रिय और धर्मकाज में बड़ा भक्त है, ढिंढोरा पिटवाकर और लाव-लश्कर मशाल और स्वर्गीय वस्तुओं

को अपनी प्रजा को दिखलाकर धर्म को प्रकट किया। देवताओं के प्रिय राजा पियदसी को इन धर्म-शिक्षाओं के प्रचार के लिए धन्यवाद है कि आज जीवधारी पशुओं का सत्कार, माता-पिता की आज्ञा का भक्ति के साथ पालन और वृद्धों का आदर होता है, जैसा कि कई शताब्दियों तक नहीं रहा। अन्य विषयों की नाईं इस विषय में भी धर्म का विचार किया गया है, और देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इसको बराबर प्रचलित रखेगा। देवताओं के प्रिय राजा पियदसी के पुत्र, पौत्र और परपौत्र इस धर्म के प्रचार को सृष्टि के अन्त तक रक्षित रक्खेंगे। धर्म और भलाई में दृढ़ रहकर वे लोग धर्म की शिक्षा देंगे, क्योंकि धर्म की शिक्षा देना सब कार्यों से उत्कृष्ट है, और भलाई के बिना कोई धर्म का कार्य नहीं होता। धार्मिक प्रेम का दृढ़ होना और उसकी वृद्धि होना वांच्छनीय है। इस उद्देश्य से यह शिलालेख खुदवाया गया है कि वे लोग अपने को इस सर्वोच्चि भलाई के कार्य में लगावें, और उसकी अवनति न होने दें। देवताओं के प्रिय राजा पियदसी से इसको अपने राजगद्दी पर बैठने के बारह वर्ष पीछे खुदवाया है।

धर्मलेख-5

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस भांति बोला—पुण्य करना कठिन है; और जो लोग पुण्य करते हैं, वे कठिन कार्य करते हैं। मैंने स्वयं बहुत-से पुण्य के कार्य किये हैं। और, इसी भांति मेरे पुत्र-पौत्र और मेरी सबसे अन्तिम सन्तति कल्पांत तक पुण्य के कार्य करेगी। और, जो इस कार्य के करने में चूकेगा, वह पाप का भागी होगा। पाप करना सहज है। देखो, प्राचीन समय में धर्म का प्रबन्ध करने वाले कर्मचारी (धर्ममहामात्र) नहीं थे। परन्तु मैंने अपने राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष में धर्म के प्रबन्ध करने वाले नियत किये हैं। वे लोग सब सम्प्रदाय के लोगों से धर्म के स्थापित करने और उन्नति करने के लिए और धर्मयुतों की भलाई करने के लिए मिलते हैं। वे योद्धाओं और ब्राह्मणों के साथ गरीब-अमीर और वृद्धों के साथ, उनकी भलाई और सुख के लिए और सत्यधर्म के अनुयायियों के मार्ग को सब विघ्नों से रहित करने के लिए मिलते हैं। जो लोग बंधनों में हैं, उन्हें वे सुख देते हैं, और उनकी बाधाओं को दूर करके उन्हें मुक्त करते हैं, क्योंकि उन्हें अपने कुटुम्ब का पालन करना पड़ता है, वे धोखे का शिकार हुए हैं, और वृद्धावस्था ने उन्हें आ घेरा है। पाटलिपुत्र तथा अन्य नगरों में वे मेरे भाई-बहनों और अन्य सम्बन्धियों के घर में यत्न करते हैं। सर्वत्र धर्ममहामात्र लोग सच्चे धर्म के अनुयायियों, धर्म में लगे हुए, और धर्म में दृढ़ लोगों और दान करनेवाले के साथ, मिलते हैं। इसी उद्देश्य से यह सूचना खुदवाई गई है।

धर्मलेख-6

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—प्राचीन समय में हर समय कार्य करने और विवरण सुनने की ऐसी प्रणाली कभी नहीं थी। इसे मैंने ही किया है। हर समय, खाने के समय, विश्राम के समय, शयनागार में, एकांत में, अथवा वाटिका में, सर्वत्र वे कर्मचारी लोग मेरे पास आते-जाते हैं, जिन्हें मेरी प्रजा के काम-काज के विषय की सूचना का भार दिया गया है, और मैं अपनी प्रजा के संबंध की बातें उनके द्वारा कहला देता हूं। स्वयं मेरे मुख से कही हुई शिक्षाओं को मेरे धर्ममहामात्र लोग प्रजा से कहते हैं। इस प्रकार मैंने यह आज्ञा दी है कि जहां कहीं धर्मोपदेशकों की सभाओं में मतभेद या झगड़ा हो, उसकी सूचना मुझे सदा मिलनी चाहिए, क्योंकि न्याय के प्रबंध में जितना उद्योग किया जाये, थोड़ा है। मेरा यह धर्म है कि मैं शिक्षा द्वारा लोगों की भलाई करूं। निरन्तर उद्योग और न्याय का उचित प्रबंध सर्वसाधारण के हित की जड़ है, और इससे अधिक फलदायक कुछ नहीं है। अतएव मेरे सब यत्नों का एक यही उद्देश्य अर्थात् सर्वसाधारण से इस प्रकार उऋण होना है। मैं यहां इसके नीचे उन्हें इतना सुखी रखता हूं। जितना मेरे किये हो सकता है। वे भविष्यत् में स्वर्ग में सुख पावें। इसी उद्देश्य से मैंने यह सूचना यहां खुदवाई है कि वह बहुत समय तक बनी रहे, और मेरे पुत्र-पौत्र और पर-पौत्र मेरी नाईं सर्वसाधारण का हित करें। इस बड़े उद्देश्य के लिए बहुत ही अधिक उद्योग की आवश्यकता है।

धर्मलेख-7

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी की यह बड़ी अभिलाषा है कि सब स्थानों में सब जातियां अपीड़ित रहें, वे सब समान रीति से इंद्रियों का दमन करें, और आत्मा को पवित्र बनावें, परन्तु मनुष्य अपनी संसारी बातों में अधीर हैं। इस कारण लोग जिन बातों को मानते हैं, उनके अनुसार कार्य पूर्ण रीति से नहीं करते, और जो लोग बहुत-सा दान नहीं देते, वे भी अपनी इंद्रियों को दमन और आत्मा को पवित्र कर सकते हैं, और अपनी भक्ति में कृतज्ञता और सचाई रख सकते हैं, और यही प्रशंसनीय है।

धर्मलेख-8

प्राचीन समय में राजा लोग अहेर खेलने जाया करते थे। यहां इस भूमि के नीचे वे अपने जी बहलाने के लिए शिकार तथा अन्य प्रकार के खेल करते थे। मैं, देवताओं के प्रिय राजा, पियदसी ने अपने राज्याभिषेक के दस वर्षों के उपरांत सत्य ज्ञान को प्राप्त किया। अतएव मेरे जी बहलाने के कार्य ये हैं, अर्थात्

ब्राह्मणों, श्रीमानों से भेंट करना, और उनको दान देना, वृद्धों से भेंट करना, द्रव्य बांटना, राज्य में प्रजा से भेंट करना और उन्हें धार्मिक शिक्षा तथा धार्मिक विषयों पर सम्मति देना। इस प्रकार देवताओं का प्रिय राजा पियदसी अपने भले कर्मों से उत्पन्न हुए सुख को भोगता है।

धर्मलेख-9

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। लोग बीमारी में, पुत्र व कन्या के विवाह में, पुत्र के जन्म पर, और यात्रा में जाने के समय भिन्न-भिन्न प्रकार के विधान करते हैं। इन अवसरों तथा ऐसे ही अन्य अवसरों पर लोग भिन्न-भिन्न विधान करते हैं। परन्तु ये असंख्य और भिन्न प्रकार के विधान, जिन्हें अधिकांश लोग करते हैं, व्यर्थ और निरर्थक हैं। परन्तु इन सब रीतियों को करने की चाल बहुत दिनों से चली आती है, यद्यपि उनका कोई फल नहीं होता। परन्तु इसके विरुद्ध धर्म-कार्य करना बहुत ही अधिक यश की बात है। गुलामों और नौकरों पर यथोचित ध्यान रखना और संबंधियों तथा शिक्षकों का सत्कार करना प्रशंसनीय है। जीवों पर दया और ब्राह्मणों तथा श्रीमानों को दान देना प्रशंसनीय है। मैं इन तथा ऐसे ही अन्य भलाई के कार्यों को धर्म-कार्य का करना कहता हूं। पिता या पुत्र, भाई या गुरु को कहना चाहिए कि यही प्रशंसनीय है, और इसी का साधन तब तक करना चाहिए जब तक उद्देश्य प्राप्त न हो जाये। यह कहा जाता है कि दान देना प्रशंसनीय है, परन्तु कोई दान इतना प्रशंसनीथ नहीं, जितना धर्म का दान अर्थात् धर्म की शिक्षा देना। इसलिए मित्र, संबंधी या संगी को यह सम्मति देनी चाहिए कि अमुक-अमुक अवस्थाओं में यह करना चाहिए—यह प्रशंसनीय है। इसमें विश्वास रखना चाहिए कि ऐसे आचरण से स्वर्ग मिलता है, और मनुष्य को उत्साह के साथ उसे स्वर्ग का मार्ग समझकर करना चाहिए।

धर्मलेख-10

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इसके अतिरिक्त किसी प्रकार के यश व कीर्ति को पूर्ण नहीं समझता कि उसकी प्रजा वर्तमान में और भविष्य में उसके धर्म को माने, और उसके धर्म के कार्य करे। इसी यश और कीर्ति को देवताओं का प्रिय राजा पियदसी चाहता है। देवताओं के प्रिय राजा पियदसी के सब उद्योग आगामी जीवन में मिलने वाले फलों के लिए तथा जीवन-मरण से बचने के लिए हैं, क्योंकि जीवन-मरण दुःख है। परन्तु इस फल को प्राप्त करना छोटों और बड़ों दोनों ही के लिए कठिन है, जब तक वे अपने को सब वस्तुओं से अलग करने

का दृढ़ उद्योग न करें। विशेषतः बड़े लोगों के लिए इसका उद्योग करना बड़ा कठिन है।

धर्मलेख-11

देवताओं के पियदसी ने इस प्रकार कहा—धर्म के दान, धर्म की मित्रता, धर्म की भिक्षा और धर्म के सम्बन्ध के समान कोई दान नहीं है। निम्नलिखित बातें करनी चाहिए—अर्थात् गुलामों और नौकरों पर यथोचित ध्यान रखना, माता-पिता की आज्ञा पालन करना, मित्रों, संगियों, सम्बन्धियों, श्रीमानों और ब्राह्मणों की ओर उदार भाव रखना और प्राणियों के जीवन का सत्कार। पिता को, पुत्र या भाई, मित्र, संगी या पड़ोसी को भी यही शिक्षा देनी चाहिए कि यह प्रशंसनीय है और इसे करना चाहिए। इस प्रकार यत्न करने में उसे इस संसार में तथा आने वाले जीवन में फल प्राप्त होता है, धर्म के दान से अन्त में यश मिलता है।

धर्मलेख-12

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी सब पन्थ के लोगों का, संन्यासियों और गृहस्थों दोनों ही का सत्कार करता है। वह उन्हें शिक्षा तथा अन्य प्रकार के दान देकर सन्तुष्ट करता है, परन्तु देवताओं का प्रिय ऐसे दान या सत्कार को उनके वास्तविक धर्म-आचरणों की उन्नति के उद्योग के सामने कुछ नहीं समझता। यह सत्य है कि भिन्न-भिन्न पंथों में भिन्न-भिन्न प्रकार के पुण्य समझे जाते हैं, परन्तु उनका सबका एक ही आधार है, और वह आधार सुशीलता और सम्भाषण में शान्ति का होना है। इस कारण किसी को अपने पंथ की बड़ी प्रशंसा और दूसरों के पंथ की निन्दा नहीं करनी चाहिए। किसी को यह नहीं चाहिए कि उनका सब अवसरों पर उचित सत्कार करे। इस प्रकार यत्न करने से मनुष्य दूसरों की सेवा करते हुए भी अपने पन्थ की उन्नति कर सकते हैं। इसके विरुद्ध यत्न करने से मनुष्य अपने पन्थ की सेवा नहीं करता, और दूसरों के साथ भी बुरा व्यवहार करता है। और जो कोई अपने पन्थ में भक्ति रखने के कारण उसकी उन्नति के लिए उसकी प्रशंसा और दूसरे पन्थों की निन्दा करता है, वह अपने पन्थ में केवल कुठार मारता है। इसलिए केवल मेल ही प्रशंसनीय है, जिससे सब लोग एक-दूसरे के मतों को सहन करते और सहन करने में प्रेम रखते हैं। देवताओं के प्रिय की यह इच्छा है कि सब पन्थ के लोगों को शिक्षा दी जाय, और उनके सिद्धांत शुद्ध हों। सब लोगों को चाहे उनका मत कुछ भी क्यों न हो, यह कहना चाहिए कि देवताओं का प्रिय वास्तविक धर्माचरण की उन्नति और सब पन्थों में परस्पर सत्कार की अपेक्षा दान और बाहरी विधानों को कम समझता है। इसी उद्देश्य से

धर्म का प्रबन्ध करने वाले कर्मचारी, स्त्रियों के लिए कर्मचारी, निरीक्षक और अन्याय कर्मचारी लोग कार्य करते हैं। इसी का फल मेरे धर्म की उन्नति और धर्म-दृष्टि से उसका प्रचार है।

धर्मलेख-13

कलिंग का देश, जिसे देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने जीता है, बहुत बड़ा है। इसमें लाखों जीव और लाखों प्राणी गुलाम बनाये गये हैं, और लाखों का वध किया गया है। कलिंग विजय करने के समय से देवताओं का प्रिय राजा धर्म की ओर फिरा है, धर्म में रत है, धर्म के लिए उत्सुक है और उसने अपने को धर्म के प्रचार में लगाया है—कलिंग विजय करने पर देवताओं के प्रिय को इतना अधिक पश्चाताप हुआ। इस देश को, जो मेरे अधीन नहीं था, विजय करने में देवताओं के प्रिय ने देशवासियों के वध और गुलाम बनाये जाने के लिए बहुत अधिक पश्चाताप किया है। सर्वत्र ब्राह्मण या श्रीमान, संन्यासी या गृहस्थ लोग रहते हैं, और ऐसे लोगों में अधिकारियों के लिए सत्कार, माता-पिता की आज्ञा मानना, मित्रों और सम्बन्धियों से प्रीति, नौकर पर ध्यान रखना और भक्ति में सचाई पाई जाती है। ऐसे मनुष्यों पर कठोरता होती है, उनकी मृत्यु होती है, तथा प्रिय लोगों से उनका वियोग होता है। और यदि विशेष रक्षा में रहकर वे स्वयं हानि से बच भी जाएं, तो भी उनके मित्र, जान-पहचान के लोग, संगी और सम्बन्धी लोग उजड़ जाते हैं और इस प्रकार उन्हें भी क्लेश उठाना पड़ता है। मैं, जो देवताओं का प्रिय हूँ, इस प्रकार की कठोरताओं का बड़ा अधिक अनुभव करता और उन पर पश्चात्ताप करता हूं, कोई ऐसा देश नहीं है। और, किसी देश में कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ लोग किसी-न-किसी धर्म को न मानते हों।

कलिंग देश में इतने अधिक लोगों के डूब जाने, उजड़ जाने, मारे जाने और गुलाम बनाये जाने के कारण देवताओं का प्रिय इसका आज हजार गुना अधिक अनुभव कर रहा है।

देवताओं का प्रिय सब प्राणियों की रक्षा, जीवन के सत्कार, शान्ति और दया के आचरण का उत्सुक हृदय से अभिलाषी है। इसी को देवताओं का प्रिय धर्म का विजय करना समझता है। अपने राज्य तथा उसके सब सीमा-प्रदेशों में, जिसका विस्तार कई सौ योजन है, इन्हीं धर्म के विजयों में देवताओं का प्रिय बड़ा प्रसन्न होता है। उसके पड़ोसियों में यवनों का राजा एन्टिओकस और एन्टिओकस के उपरान्त चार राजा लोग अर्थात् टोलेमी, एन्टिगोनस, मेगेस और सिकन्दर दक्षिण से तंबपन्नी नदी तक चोल तथा पंड्य लोग और हेनराज विस्मवसी भी, यूनानियों और कम्बोजों में नाभक और नाभपंति लोग भोज और पेतेनिक लोग अन्ध्र और पुलिन्द लोग सर्वत्र लोग देवताओं के प्रिय भी धार्मिक शिक्षाओं के अनुकूल हैं।

जहां कहीं देवताओं के प्रिय के दूत भेजे गये, वहां लोगों ने देवताओं के प्रिय की ओर से जिस धर्म के कर्तव्यों की शिक्षा दी गई, उसे सुना और उस धर्म तथा धार्मिक शिक्षाओं से सहमत हुए, और सहमत होंगे···इस प्रकार विजय चारों ओर फैलाई गई है। मुझे अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ है, धर्म के विजयों से ऐसा सुख ही होता है। पर सच तो यह है कि यह आनन्द एक दूसरी बात है। देवताओं का प्रिय केवल उन फलों को बहुत अधिक समझता है, जो दूसरे जन्म में अवश्य मिलेंगे। इसी उद्देश्य से यह धार्मिक शिलालेख खुदवाया गया है कि हमारे पुत्र और पौत्र यह न सोचें कि किसी नवीन विजय की आवश्यकता है, वे यह न विचारें कि तलवार से विजय करना 'विजय' कहलाने योग्य है, वे उनमें नाश और कठोरता के अतिरिक्त कुछ न देखें, वे धर्म की विजय को छोड़कर और किसी प्रकार की विजय को सच्ची विजय न समझें। ऐसी विजय का फल इस लोक तथा परलोक में होता है। वे लोग केवल धर्म में प्रसन्न रहें, क्योंकि उसी का फल लोक और परलोक में होता है।

धर्मलेख-14

यह सूचना देवताओं के प्रिय राजा पियदसी की खुदवाई हुई है। वह कुछ तो संक्षेप में, कुछ साधारण विस्तार की और कुछ बहुत विस्तृत है। अभी सब का एक दूसरे से सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि मेरा राज्य बड़ा है, और मैंने बहुत-सी बातें खुदवाई हैं, और बहुत-सी बातें अभी और खुदवाऊंगा। कुछ बातें दोहराकर लिखी गई हैं, क्योंकि मैं उन बातों पर विशेष जोर दिया चाहता हूं। प्रतिलिपि में दोष हो सकते हैं—यह हो सकता है कि कोई वाक्य कट गया हो या अर्थ और का और समझा जाये। यह सब खोदने वाले कारीगर का काम है।

यह अशोक की चौदहों प्रसिद्ध सूचनाएं हैं, जिसके द्वारा उसने (1) पशुओं के वध का निषेध किया, (2) मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सा का प्रबन्ध किया, (3) पांचवें वर्ष एक धार्मिक उत्सव किये जाने की आज्ञा दी, (4) धर्म की शोभा प्रकट की, (5) धर्म महाभावों और उपदेशकों को नियत किया, (6) सर्व-साधारण के सामाजिक और गृह-सम्बन्धी जीवन के आचरणों के सुधार के लिए आचार शिक्षक नियत किए, (7) सबके लिए धार्मिक अप्रतिरोध प्रकट किया, (8) प्राचीन समय के हिंसक कार्यों के स्थान पर धार्मिक सुखों की प्रशंसा की, (9) धार्मिक शिक्षा और सदुपदेश देने की महिमा लिखी, (10) सत्य-धर्म के प्रचार करने की कीर्ति और सत्य वीरता की प्रशंसा की, (11) सब प्रकार के दानों में धार्मिक शिक्षा के दान को सर्वोत्तम कहा, (12) सार्वजनिक सम्मति के सम्मान और आचार के प्रभाव सम्बन्धी सिद्धांतों पर अन्य धर्म के लोगों को अपने

मत में लेने की इच्छा प्रकट की, (13) कलिंग के विजय का उल्लेख किया, और उन पांच यूनानी राजाओं तथा भारतवर्ष के राज्यों के नाम लिखे, जहां धर्मोपदेशक भेजे गये थे, और अन्त में(14) उपर्युक्त शिला लेखों का सारांश दिया, और सूचनाओं के खुदवाने के विषय में कुछ वाक्य लिखे।

ऐतिहासिक दृष्टि से दूसरी सूचना बड़े काम की है, क्योंकि उसमें सीरिया के एन्टिओकस तथा हिन्दू राज्यों के नाम दिये हैं। पांचवीं सूचना में भी ऐसे नाम हैं, और तेरहवीं सूचना में कलिंग के विजय का उल्लेख है, जिससे बंगाल और उड़ीसा का मगध और उत्तरी भारतवर्ष से घनिष्ठ राज्य सम्बन्ध हुआ।

इसी सूचना में पांच यूनानी राजाओं के नाम दिये हैं, और वह मूल पाठ, जिनमें ये नाम आए हैं उद्धृत किए जाने योग्य हैं। 'अंतियोक नामयोन राज, परम चतेन अंतियोकेन चतुर राजनि' तुरमये नाम, अंतिकिन नाम, मकनाम, अलिकसन्दरे नाम।

ये पांचों के नाम सीरिया के एन्टिओकस, ईजिप्ट टोलेमी, मेसेडन के एन्टिगोनस, साइरीन के मगस और एपिरस के एलेकजेण्डर के हैं। वे सब अशोक के समकालीन थे, और अशोक ने उनके साथ सन्धि की थी, और उनकी सम्मति से उनके देशों में बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए उपदेशक भेजे थे। इसी सूचना में भारतवर्ष तथा उसके आस-पास के उन राज्यों के नाम भी दिये हुए हैं, जहां इसी प्रकार धर्मोपदेशक लोग भेजे गये थे। उपर्युक्त चौदहों सूचनाओं के सिवा जो कानून या आचार नियमों की भांति प्रकाशित की गई थीं, अशोक ने समय-समय पर अन्य सूचनाएं भी खुदवाई थीं, और उनमें से कुछ खुदे हुए लेख हम लोगों को मिले भी हैं।

धौली और जौगड़ (जो कटक के दक्षिण-पश्चिम में है) की एक सूचना में तोलसी नगर के शासन के लिए दया से भरे हुए नियम लिखे हैं, सब प्रजाओं के लिए धर्माचरण की शिक्षा दी है, और पांचवें वर्ष उस धार्मिक उत्सव को करने के लिए कहा है, जिसका उल्लेख ऊपर आया है। उसी सूचना में यह भी लिखा है कि उज्जयिनी, और तक्षशिला में यह उत्सव प्रति तीसरे वर्ष होना चाहिए।

धौली और जौगड़ में एक दूसरी सूचना भी प्रकाशित की गई थी, जिसमें तोसली और समापा के शासन के नियम और सीमा प्रदेश के कर्मचारियों के लिए शिक्षा है। दो सूचनाओं का अर्थात् एक तो सहसराम (बनारस के दक्षिण-पूरब) की ओर, दूसरे स्पनाथ (जबलपुर के उत्तर-पूरब), की सूचनाओं का अनुवाद डॉक्टर बुलहर साहब ने किया है। उनमें धार्मिक सत्योपदेश हैं, और उनसे विदित होता है कि यह धार्मिक सम्राट् 256 धर्मोपदेशकों (विवुथों) को नियम करके उन्हें चारों ओर भेज चुका था। वैराट (दिल्ली के दक्षिण-पश्चिम) का शिलालेख मगध के धर्मोपदेशकों के लिए है, और उसमें अशोक के बौद्ध त्रैकत्व अर्थात्

बुद्ध-धर्म और संघ में अपना विश्वास प्रकट किया है। अशोक की दूसरी रानी की एक धार्मिक सूचना इलाहाबाद में मिली है और अशोक के तीन नए शिला-लेख मैसूर में मिले हैं।

अब हम गुफाओं के शिला-लेखों का वर्णन करेंगे।

निम्नलिखित गुफाओं के शिला-लेख मिले हैं, अर्थात् गया के 16 मील उत्तर बरबर और नागार्जुन गुफाओं के, कटक के उत्तर खंडगिरि की गुफाओं के और मध्य प्रदेश में रामगढ़ की गुफाओं के शिला-लेख। बरगर की गुफाओं के शिला-लेख में लिखा है--कि इन गुफाओं को अशोक (पियदसी) ने धार्मिक भिक्षुओं को दिया था, और नागार्जुनी की गुफाओं में लिखा है—कि इन्हें अशोक के उत्तराधिकारी राजा दशरथ ने दान किया था। खंडगिरि और उदयगिरि की गुफाओं में से अधिकांश कलिंग (उड़ीसा) के राजाओं की दान की हुई हैं। और अन्त में हम लाटों पर खुदे हुए धर्म-लेखों के विषय में लिखेंगे जिन्हें स्तम्भ-लेख कहते हैं।

दिल्ली और इलाहावाद की प्रसिद्ध लाटों ने सर विलियन जोन्स के समय से पुरातत्व वेत्ताओं का ध्यान आकर्षित किया है। और वे उनकी चतुराई में बट्टा लगाती रही हैं। अन्त में उन्हें पहले-पहल प्रिन्सिपल साहब ने पढ़ा। दिल्ली की दोनों लाट और इलाहाबाद की लाट के सिवा, तिरहुत में लोरिया में दो लाट और भूपाल में सांची में एक लाट है।

प्रायः सब लाटों में वे ही एक जैसी छह सूचनाएं खुदी हुई हैं, पर दिल्ली में फीरोजशाह की लाट में एक सूचना अधिक पाई गई हैं। स्मरण रहे, ये सूचनाएं अशोक के राज्याभिषेक के 27वें और 28वें वर्ष में प्रकाशित की गई थीं। उनमें इस सम्राट के राजकीय विषयों का बहुत ही कम उल्लेख है, पर उसने सदाचरण और धर्म की शिक्षाओं तथा सर्वसाधारण के हित के लिए जो कर्म किये थे, उनके वृत्तान्त से वे भरी हुई हैं। संक्षेप में इस धार्मिक सम्राट् ने (1) अपने धर्म-सम्बन्धी कर्मचारियों को उत्साह और धार्मिक चिन्ता के साथ कार्य करने का उपदेश किया है, (2) दया, दान, सत्य और पवित्रता को धर्म कहा है, (3) आत्म-परीक्षा करने और और पाप से बचने के लिए जोर देकर उपदेश दिया है, (4) लोगों को धार्मिक शिक्षा देने का कार्य रज्जुकों को सौंपा है, और जिन लोगों को फांसी की आज्ञा हो, उनके लिए तीन दिन की अवधि दी है, (5) भिन्न-भिन्न प्रकार के पशुओं के वध का निषेध किया है, (6) अपनी प्रजा पर अपना हित प्रकट किया है, और सब पन्थ के लोगों के बौद्ध हो जाने की आशा प्रकट की है, (7) यह आशा प्रकट की है कि उसकी सूचानाएं तथा धर्मोपदेश लोगों को सत्य पथ पर चलने के लिए उद्यत करेंगे, और (8) अन्त में अपने सर्वसाधारण के हित के कार्यों और लोगों की धर्मोन्नति के उपायों का पुनरुल्लेख किया है, और सदाचार की शिक्षा द्वारा लोगों को अपने मत में लाने की आज्ञा दी है। इन आठों

सूचनाओं का निम्नलिखित अनुवाद सिर्नाट साहब के अनुसार दिया जाता है—

प्रथम स्तम्भ-लेख

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—अपने राज्याभिषेक के 26वें वर्ष में मैंने यह सूचना खुदवाई है। धर्म में अत्यन्त उत्साह, कठोर निरीक्षण, पूरी तरह आज्ञा-पालन करने और निरन्तर उद्योगों के बिना मेरे कर्मचारियों को इस लोक तथा परलोक में सुख पाना कठिन है। पर मेरी शिक्षा को धन्यवाद है कि धर्म के लिए यह चिन्ता और उत्साह बढ़ रहा है, और दिन-दिन बढ़ेगा। और मेरे उच्च श्रेणी के मध्यम श्रेणी के तथा नीचे की श्रेणी के कर्मचारी लोग उसके अनुसार चलते हैं, और लोगों को सत्यमार्ग बतलाते हैं तथा उन्हें हर्षित रखते हैं। और इसी प्रकार मेरे सीमा-प्रदेश के कर्मचारी (अन्तमहामात्र) भी कार्य करते हैं। क्योंकि नियम यह हैं—

धर्म से शासन, धर्म से कानून, धर्म से उन्नति और धर्म से रक्षा।

द्वितीय स्तम्भ-लेख

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—धर्म उत्तम है। पर यह पूछा जा सकता है कि यह धर्म क्या है? धर्म थोड़ी-से-थोड़ी बुराई और अधिक-से-अधिक भलाई करने में है, वह दया, दान, सत्य और पवित्र जीवन में है। इसलिए मैंने मनुष्यों, चौपायों और जल-जन्तुओं के लिए सब प्रकार के दान दिए हैं, मैंने उनके हित के लिए बहुत-से कार्य किये हैं, यहां तक कि उनके पीने के लिए जल का भी प्रबन्ध किया है। और बहुत-से अन्य प्रशंसनीय कार्य किए हैं। इस हेतु मैंने यह सूचना खुदवाई, जिसमें लोग उसके अनुसार चलें, और सत्य-पथ को ग्रहण करें, और यह बहुत काल तक स्थिर रहे। जो इसके अनुसार कार्य करेगा, वह भला और प्रशंसनीय कार्य करेगा।

तृतीय स्तम्भ-लेख

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—मनुष्य केवल अपने-अपने अच्छे कर्मों को देखता है, और कहता है कि मैंने यह अच्छा कार्य किया है। पर वह अपने बुरे कर्मों को नहीं देखता, और यह नहीं कहता कि मैंने यह बुरा कार्य किया, यह पाप है। यह सच है कि ऐसी जांच करना दुखदायी है, परन्तु यह आवश्यक है कि अपने मन में यह प्रश्न किया जाये, और यह कहा जाये कि ऐसी बातें यथा दुष्टता, निर्दयता, क्रोध और अभिमान पाप हैं। सावधानी से अपनी परीक्षा करते और कहते रहना आवश्यक है कि मैं ईर्ष्या को स्थान न

दूंगा, और न दूसरों की निन्दा करूंगा। यहां मेरे लिए यहां फलदयाक होगा, यथार्थ में यह दूसरे जन्म में और भी लाभदायक होगा।

चतुर्थ स्तम्भ-लेख

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—अपने राज्याभिषेक के 26वें वर्ष में मैंने यह सूचना खुदवाई है। मैंने लाखों निवासियों के लिए रज्जुकों को नियत किया है। मैंने रज्जुकों को दण्ड देने का अधिकार अपने हाथ में रक्खा है, जिसमें वे पूरी दृढ़ता और रक्षा के साथ अपना कार्य करें, और मेरे राज्य के लोगों की भलाई और उन्नति करें। वे उन्नति और दुःख दोनों की बराबर जांच करते रहते हैं, और धर्मयुतों के साथ वे मेरे राज्य के लोगों को शिक्षा देते हैं, जिनसे लोग सुख और भविष्यत् में मुक्ति प्राप्त कर सकें। रज्जुक लोग मेरी आज्ञा-पालन करते हैं, पुरुप लोग भी मेरी इच्छा और आज्ञाओं का पालन करते हैं, और मेरे उपदेशों का प्रचार करते हैं, जिसमें रज्जुक लोग सन्तोषजनक कार्य करें। जिस भांति कोई मनुष्य अपने बच्चे को किसी सचेत दाई को देकर निश्चित रहता है, और सोचता है कि मेरा बच्चा सचेत दाई के पास है, उसी भांति मैंने भी अपनी प्रजा के हित के लिए रज्जुक लोगों को नियत किया है। और जिसमें वे दृढ़ता और रक्षा के साथ बिना किसी चिन्ता के अपना कार्य करें, मैंने उनको अभियुक्त करने और दण्ड देने का अधिकार स्वयं अपने हाथ में रखा है। अभियुक्त करने और दण्ड देने में दृष्टि से देखना चाहिए। इसलिए आज की तिथि से यह नियम किया जाता है कि जिन कैदियों का न्याय हो गया है और जिन्हें फांसी देने की आज्ञा हुई है, उनके लिए तीन दिन की अवधि दी जाए।

उनको सूचना दी जाएगी कि वे तीन दिन तक जीवित रहेंगे। न इससे अधिक और इससे कम। इस प्रकार अपने जीवन की सूचना पाकर वे अपने दूसरे जन्म के हित के लिए जीवन-दान देंगे अथवा व्रत रखेंगे। मेरी इच्छा है कि बंदीगृह में भी उन्हें भविष्यत् का निश्चय दिलाना चाहिए, और मेरी यह दृढ़ अभिलाषा है कि मैं धर्म के कार्यों की उन्नति, इंद्रियों के दमन और दान का प्रचार देखूं।

पंचम स्तम्भ-लेख

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—अपने राज्याभिषेक के 26 वर्ष के उपरांत मैंने निम्नलिखित जीवों के मारे जाने का निषेध किया है, अर्थात् शुक, सारिका, अस्न, चक्रवाक, हंस नंदिमुख, गैरन, गेलात, (चमगीदड़) अम्बक पिल्लिक, दद्धि, अनस्थिक मछली, वेदवेयक, गंगा-नदी के पुपुत, सकुंज, कफत, सयक, पभनसस, सिमल, संदक, ओकपिंड, पलसत, स्वेतकपोत, ग्राम-

कपोत और सब चौपाये जो किसी काम में नहीं आते और खाये नहीं जाते। बकरी, भेड़ी और शूकरी जब गाभिन हो व दूध देती हों व जब तक उनके बच्चे छः महीने के न हों न मारी जाएं। लोगों के खाने के लिए मुर्गी को खिलाकर मोटी न करनी चाहिए। जीते हुए जानवरों को नहीं जलाना चाहिए। जंगल चाहे असावधानी से अथवा उसमें रहने वाले जानवरों को मारने के लिए जलाये नहीं जाएंगे। तीनों चतुर्मास्यों की पूर्णिमा को, पूर्णिमा के चन्द्रमा का तिष्य नक्षत्र से और पुर्नवसु नक्षत्र से योग होने पर चन्द्रमा के चौदहवें और पन्द्रहवें दिन और पूर्णिमा के उपरांत वाले दिन और साधारणतः प्रत्येक उपोसथ दिन में किसी को मछली मारनी व बेचनी नहीं चाहिए। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को और तिष्य, पुर्नवसु और तीनों चतुर्मास्यों की पूर्णिमा के दूसरे दिन किसी को सांड़, बकरा, भेड़, सूअर व किसी दूसरे बधिये किये जाने वाले जानवरों को बधिया नहीं करनी चाहिए।

तिष्य पुर्नवसु और चतुर्मास्यों की पूर्णिमाओं को और चातुर्मास्यों की पूर्णिमाओं के दूसरे दिन घोड़े व बैल को नहीं दागना चाहिए। अपने राज्याभिषेक के 26वें वर्ष में मैंने 26 बंदियों को छोड़ दिया है।

षष्ट स्तम्भ-लेख

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—अपने राज्याभिषेक के 12 वर्ष पर मैंने अपनी प्रजा के लाभ और सुख के लिए (पहले-पहले) सूचनाएं खुदवाईं। मैं यह समझकर प्रसन्न हूं कि वे लोग इससे लाभ उठावेंगे, और धर्म में अनेक प्रकार से उन्नति करेंगे, और इस भांति ये सूचनाएं लोगों के लाभ सुख का कारण होंगी। मैंने वे उपाय किये हैं, जिनसे मेरी प्रजा के—जो मुझसे दूर और मेरे निकट रहती है—और मेरे सम्बन्धियों के भी सुख की उन्नति अवश्य होगी। इसी कारण मैं अपने सब कर्मचारियों पर देख-भाल रखता हूं, सब पंथ के लोग मुझसे अनेक प्रकार के दान पाते हैं। परन्तु मैं उनके धर्म-परिवर्तन को सबसे अधिक आवश्यक समझता हूं। मैंने यह सूचना अपने राज्याभिषेक के 26 वर्ष उपरान्त खुदवाई है।

सप्तम स्तम्भ-लेख

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—प्राचीन समय में जो राजा लोग राज्य करते थे, वे चाहते थे, मनुष्य धर्म में उन्नति करें। परन्तु उनकी इच्छानुसार मनुष्यों ने धर्म में उन्नति नहीं की। तब देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—मैंने सोचा, प्राचीन समय के राजा लोग यह चाहते

थे कि मनुष्य धर्म में उन्नति करें। परन्तु उनकी इच्छानुसार मनुष्यों ने उन्नति नहीं की, अतः मैं किस प्रकार उन्हें सत्य-पथ पर ला सकता हूं, तब देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—मैंने धर्म-सम्बन्धी उपदेशों को प्रकाशित करने और धार्मिक शिक्षा देने का निश्चय किया, जिसमें मनुष्य इनको सुनकर सत्य-पथ को ग्रहण करें, और उन्नति करें।

मैंने धार्मिक शिक्षाओं को प्रकाशित किया है, और धर्म के विषय में अनेक उपदेश दिये हैं, जिससे धर्म की शीघ्र उन्नति हो। मैंने लोगों के लिए बहुत-से कर्मचारी नियत किये हैं, उनमें से प्रत्येक प्रजा की ओर अपना धर्म करने में लगा हुआ है, जिसमें वे शिक्षा का प्रचार और भलाई की उन्नति करें। इसलिए मैंने हजारों मनुष्यों पर रज्जुक लोगों को नियत किया है। और यह आज्ञा दी है कि वे धर्मयुतों को शिक्षा दें। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—केवल इसी बात के लिए मैंने लाटों पर धर्म-सम्बन्धी लेख खुदवाये हैं, धर्म-महामात्रों को नियत किया है, और दूर-दूर तक धर्मोपदेश का प्रचार किया है। बड़ी सड़कों पर मैंने नये अग्रोध के वृक्ष लगवाये हैं, जिससे वे मनुष्यों और पशुओं को छाया दें। मैंने आम के बगीचे लगवाए हैं, आधे-आधे कोस पर कुएं खुदवाये हैं, और अनेक स्थानों पर मनुष्यों और पशुओं के सुख के लिए धर्मशालाएँ बनवाई हैं। मेरे लिए यथार्थ प्रसन्नता की बात यह है कि पहले के राजा लोगों ने तथा मैंने अनेक अच्छे कार्यों से लोगों के सुख का प्रबन्ध किया है, किन्तु मैं लोगों को धर्म के पथ पर चलाने के एकमात्र उद्देश्य से अपने सब कार्य करता हूं। मैंने धर्म महामात्रों को नियत किया है जिसमें वे सब प्रकार से धर्म के कार्य में यत्न करें, और सब पंथ के लोगों में, संन्यासियों और गृहस्थों में यत्न करें। पुजारियों, ब्राह्मणों, संन्यासियों, निर्ग्रंथों और भिन्न-भिन्न पंथ के लोगों के हित का ध्यान भी मेरे हृदय में हो रहा है, और उन सब लोगों में मेरे कर्मचारी कार्य कर रहे हैं। महामात्र लोग अपने-अपने समाज में कार्य कर रहे हैं, ये तथा अन्य कर्मचारी मेरे हथियार हैं, और वे मेरे तथा रानियों के दान को बांटते हैं, मेरे महल में वे अपने-अपने कमरों में अनेक प्रकार से कार्य करते हैं। मैं यह भी जानता हूं, वे यहां तथा प्रांतों में मेरे लड़कों के और विशेषतः राजकुमारों के दान को धर्म-कार्यों के साधन और धर्म को बढ़ाने के लिए बांटते हैं। इस प्रकार इस संसार में धर्म-कार्य अधिक होते हैं, और धर्म के साधन दया, दान, सत्य, पवित्रता, उपकार और भलाई की उन्नति होती है। भलाई के अनेक कार्य, जिन्हें मैं करता हूं, उदाहरण की भांति हैं। उनको देखकर सम्बन्धियों और गुरुओं की आज्ञा-पालन में, वृद्धों के लिए दया-भाव रखने में, ब्राह्मणों और श्रामनों का सत्कार करने में, गरीब दुखियों, नौकरों और गुलामों का आदर करने में, लोगों ने उन्नति की है, और करेंगे। मनुष्यों में धर्म की उन्नति दो प्रकार से हो सकती है। स्थिर नियमों द्वारा और उन लोगों के धर्म के विचारों

को उत्तेजित करने के द्वारा। इन दोनों मार्गों में कठोर नियमों का रखना ठीक नहीं है, केवल हृदय के उत्तेजित करने ही का सबसे अच्छा प्रभाव होता है। दृढ़ नियम मेरी आज्ञाएं हैं, यथा, मैं विशेष पशुओं के वध का निषेध करूं, और कोई धार्मिक नियम बनाऊं, जैसा मैंने किया भी है। परन्तु केवल हृदय के विचारों के परिवर्तन से ही जीवों के ऊपर दया और प्राणियों को वध न करने से विचार में धर्म की सच्ची उन्नति होती है। इसी उद्देश्य से मैंने यह लेख प्रकाशित किया है कि वह मेरे पुत्रों और पौत्रों के समय तक स्थिर रहे, जिसमें वे मेरी शिक्षाओं के अनुसार चलें। क्योंकि इस पथ पर चलने से मनुष्य यहां तथा परलोक, दोनों में सुख प्राप्त करता है। मैंने यह सूचना अपने राज्याभिषेक के 27वें वर्ष में खुदवाई है। जहां कहीं यह सूचना पत्थर की लाटों पर हैं, वहां वह बहुत समय तक स्थिर रहे।

यह सूचना बहुत समय तक स्थिर रही है, और उसके उपरांत के दो हजार वर्षों में मनुष्य-जाति ने दया, दान, सत्य, पवित्रता, उपकार और भलाई की उन्नति करने से बढ़कर इस संसार ने कोई धर्म नहीं पाया है।

अशोक का धर्म-कार्य

अशोक का धर्म कुछ ऐसा निराला और अद्भुत था, जिसे हम पृथ्वी-भव में अलौकिक मान सकते हैं। रोमन-सम्राट् कंसटैंटाइनन औरंगजेब ने भी धर्म-प्रचार में नाम पाया, परन्तु अशोक का तो व्यक्तित्व ही और था। उस समय तक भी बौद्ध-धर्म आर्य-धर्म का एक सम्प्रदाय मात्र था, जो धीरे-धीरे यज्ञों, उनकी हिंसाओं तथा उनके कर्ताओं की प्रबल-सत्ता का विरोध कर रहा था। अशोक ने इस साधारण सम्प्रदाय को जगमान्य बना दिया। आज चीन, जापान, लंका, श्याम, बर्मा, तिब्बत आदि देशों में पचासों करोड़ बौद्ध हैं, यह सब बुद्ध का प्रभाव है। यवनों से शासित यूरोप और अफ्रीका में भी अशोक ने बौद्ध-धर्म का प्रभाव बड़ी शांति से कराया, यद्यपि वे स्वयं जीवन के अन्त तक राज-कार्य करते रहे, परन्तु वे समय-समय पर साधुवेश धारण करते और भिक्षा भी मांग लिया करते थे। उनकी प्रशस्तियां बताती हैं कि वे धर्मोपदेशक भी थे। अशोक अपने सम्राट् होने के 20 वर्ष बाद अपने गुरु उपगुप्त के साथ तीर्थाटन को निकले थे। उनके साथ 20 हजार शिष्य थे। इस यात्रा में जहां-जहां चक्रवर्ती ने मुकाम किया, वहां ध्वज-स्तम्भ और शिलालेखों की स्थापना की। इस यात्रा में यह महान् सम्राट् पाटलिपुत्र से उस प्रदेश से होते हुए जो अब मुजफ्फरपुर और चम्पारन जिले में हैं, हिमालय के पास पहुंचे। फिर वह लुंबिनी ग्राम में पहुंचे। जहां बुद्ध ने जल पिया

था, वहां भी अशोक ने एक धातु-स्तम्भ का निर्माण किया, और वह गांव उसी के लिए जागीर में दे दिया। फिर वे कपिलवस्तु आये, जो बस्ती जिले के पिपरावा गांव के निकट ही कहीं था। यह बुद्ध के पिता की राजधानी थी। फिर वह सारनाथ, श्रावस्ती आये, और स्तूप बनवाये। और दस लाख निष्क दान में दिये। फिर गया और कुसीनगर आये। इन सभी स्थलों पर अशोक ने स्तम्भ स्थापित किये।

अशोक ने अपने पुत्र और पुत्रियों को दूर देश लंका में धर्म-प्रचारार्थ भेजा, और अन्य विद्वानों को देश-देशांतरों में। उन्होंने बड़े-बड़े दान किये। उन्होंने औषधालय, जलाशय स्थापित किये। पशु-चिकित्सालय खोला, जीव-हिंसा धीरे-धीरे उन्होंने बन्द की। अन्त में सर्वथा बन्द हो गई। अशोक ने अपने धर्म-सिद्धांतों और आदेशों के पालनार्थ एक सरकारी महकमा बना लिया था।

शासन

अशोक पूर्णाधिकार प्राप्त सम्राट् थे। सर्वोत्तम अधिकारियों को नियुक्त करना, सेना संगठित करना, युद्ध और सन्धि करना, प्रजा से कर ग्रहण करना, न्याय करना कोष का व्यय करना, नियम-विधान बनाना आदि से वह पूर्ण स्वच्छन्द थे। खेद है, अशोक के मंत्रियों के नाम नहीं मिलते, परन्तु अपने राजकार्यों का उसने छठे शिला-लेख में उल्लेख किया है।

सेना

अशोक की सेना में 80 हजार सवार, 6 लाख पैदल, 8 हजार रथ और 9 हजार हाथी थे। प्रत्येक रथ में चार या दो घोड़े जुड़ते थे। चार घोड़े वाले रथ पर दो सारथी, दो धनुर्धारी और दो ढालबर्दार होते थे। प्रत्येक हाथी पर महावत के सिवा तीन धनुर्धर रहते थे। इस प्रकार नौकर-चाकरों को छोड़कर इस सेना में सात लाख के लगभग मनुष्य थे। नौकर-चाकर, साईस, बाजे वाले आदि सब मिलाकर यह संख्या साढ़े आठ लाख तक पहुंच जाती है। प्रधान शस्त्र बाण था, पैदलों के पास तलवारें भी थीं। पर वे प्रायः तीर-धनुष रखते थे। यूनानियों ने लिखा है कि इन लोहे के तीरों से कवच भी रक्षा नहीं कर सकता। सवारों के पास भाले होते थे।

यह सेना 30 सदस्यों की समिति के अधीन थी। उस धर्म-समिति के अधीन 5-5 सदस्यों की 6 उप-समितियां थीं, जिनमें एक नाविक सेना की उपसमिति थी। दूसरी बारबरदारी, रसद आदि का काम करती थी। साईस, बाजे वाले, घसियारे, कारीगर, मजदूर—सब इसी के अधीन थे। तीसरी उपसमिति पैदल, चौथी सवारों, पांचवीं रथों और छठी हाथियों के विभाग का निरीक्षण करती थी।

राज्य प्रबन्ध

प्रत्येक 10 गांवों के मध्य गांव में एक कस्बा और एक गढ़ी होती थी। 200 गांवों के बीच एक शहर और किला होता था। इसे खारवाटिक कहते थे। 400 गाँवों के बीच एक नगर होता था, जिसे द्रौणमुख कहते थे। 800 गांवों के बीच एक स्थानीय होता था। इसके बाद बड़े-बड़े नगरों की बारी आती थी।

पुलिस

इसका काम अपराधियों का पता लगाना और उन्हें न्यायाधीश के सामने लाना था। इसका यह भी काम था कि राज्य-कर्मचारियों को लोकमत की सूचना दे। वह आजकल के सीक्रेट सर्विस के तौर पर थी। अशोक ने इनके लिए पुलिसादि और पतिवद का प्रयोग किया है। एक विभाग धर्म-निरीक्षण का था जो धर्म-प्रचार का प्रबन्ध करता था। गुप्तचरों का काम बड़ा जान-जोखिम का था।

न्याय

कानून बहुत कठोर थे। झूठी गवाही देने, राजा की सवारी के सम्मुख आने, पवित्र वृक्षों को काटने, टैक्स न देने की सजा मृत्यु थी, मार-पीटकर इकबाल कराने का भी रिवाज था।

सामान्य अपराधों का विचार ग्राम्य-पंचायतें करती थीं। पेशे की पंचायतें पृथक् थीं, जो पेशे-सम्बन्धी पंचायतें किया करती थीं। इनके ऊपर दो न्यायालय थे, जो केन्द्रों में होते थे। इनमें तीन तो श्रुत, स्मृति-ज्ञाता पण्डित और तीन स्थानीय आचार-विचार के ज्ञाता होते थे। नीचे के न्यायालयों में इकरारनामा, ऋण, चोरी, खेती के झगड़े, मारपीट, घरेलू झंझट आदि होते थे। बड़े न्यायालयों में व्यापार, शिल्प, छल, विद्रोह, डकैती, व्यभिचार और खून के अभियोग जाते थे। ये अदालतें प्राण-दण्ड दे सकती थीं। अकाल के प्रबन्ध भी इन्हीं के सुपुर्द थे। राज-सभा में एक कानून का प्रकाण्ड विद्वान् होता था, इसे माड् विवाक कहते थे। नहरों का पृथक् विभाग था। अकाल में सरकारी अन्नागारों से प्रजा को अन्न बांटा जाता था, अगली फसल के लिए बीज दिया जाता था, तथा मजदूरी के लिए नये-नये काम खोले जाते थे और यथासम्भव सुकाल स्थल में लोग भेज दिये जाते थे।

जल-स्थल-मार्ग

एक बड़ी सड़क पाटलिपुत्र से अफगानिस्तान तक थी। यही अब सड़क आजम या ग्रांड ट्रंक रोड कहाती है, सड़कों के दोनों ओर वृक्ष लगे रहते थे। विश्राम-भवन

भी थे। आध-आध कोस पर पत्थर गड़े थे, जिनकी रखवाली और मरम्मत होती रहती थी। जिस गांव के मजदूर इन मरम्मतों को करते थे, उन्हें कर नहीं देना पड़ता था। तंग-से-तंग गली की चौड़ाई 1 गज होती थी। बड़ी सड़कें 32 फुट और राजमार्ग 64 फुट चौड़े होते थे। घोड़े, हाथी, पालकी, रथ और बैलगाड़ियां चलती थीं। व्यापार का माल बैलगाड़ियों, ऊंटों, गधों और मनुष्यों पर लदता था। जल-मार्ग का प्रबन्धक एक स्वतन्त्र विभाग था। यात्रियों को नियत मूल्य पर समय पर नाव मिल जाती थी। मार्ग में चोरों और डकैतों से उनकी रक्षा की जाती थी। पुल लकड़ी, ईंट, पत्थर के होते थे, जो इन्हीं के निरीक्षण में थे। सरकारी घाट और मछुओं के घाट पृथक्-पृथक् थे। मछली का व्यापार भी इसी विभाग के अधीन था।

कोष

राज्य की विशेष आय भूमि-कर से थी। सम्राट् पैदावार का पंचमांश लेता था। लगान की दृष्टि से गांव 5 कक्षाओं में विभक्त थे। एक, जो राज्य-कर से मुक्त थे। दूसरे वे, जो नियत संख्या में सिपाही दिया करते थे। तीसरे वे, जो अन्न, रुई, पशु या द्रव्य देते थे, चौथे दूध-दही देते थे, पांचवें मुफ्त मजदूर या बना हुआ माल देते थे।

प्रत्येक गांव के गोप (मुखिया) के पास बही होती थी, उसमें प्रत्येक गृह का नाम, जाति, सम्पत्ति और आमद लिखी रहती थी। लगान भी लिखा रहता था। गोप इस लगान को तहसील केन्द्र के अध्यक्ष के पास भेज देता था। इस प्रकार वह राजकोष तक पहुंचता था। गांवों की तरह नगर में भी एक कर्मचारी होता था, जो नागरिक कहाता था। नगरों की प्रधान आय चुंगी से होती थी। बाहर से आये माल पर 20 प्रतिशत चुंगी लगती थी। जो वस्तु जहां बनती थी, वहीं बिकती थीं। बाहर की वस्तुएं नगर के बाहर नहीं बिक सकती थीं। फाटक से घुसते ही बाजार शुरू होता था। वहीं सब चीजें बिकती थीं। बिके माल पर चुंगी लगती थी। शस्त्र, अन्न, पशु और सवारियों पर चुंगी नहीं लगती थी। इसलिए ये नगर के बाहर भी बिक सकते थे। धर्म के लिए, राजा की भेंट के लिए, विवाह-कार्य या गर्भवती के लिए जो वस्तुएँ आती थीं, उन पर चुंगी नहीं लगती थी।

खास अवसरों पर राज्य कर्ज लेता था। मधुशालाओं और जुआ-घरों से भी आय थी।

नागरिक-शासन

पाटलिपुत्र के नागरिक शासन (म्यूनिसिपल एडमिनिस्ट्रेशन) का बिस्तृत वर्णन मिलता है। तीन सदस्यों की सभा नगर का शासन करती थी, जो 5-5

सभ्यों की 6 उपसभाओं में विभक्त थी। पहली उपसभा मजदूरों और श्रमजीवियों का काम देखती थी। बाजार की वस्तु शुद्ध और भाव ठीक है, यह देखना भी इसी का काम था। दूसरी उपसभा विदेशियों का निरीक्षण करती थी, जो विदेशी नगर में आता उस पर कड़ी दृष्टि रखती थी। वह कहां से आया, क्यों आया, कहां जाता है, क्यों जाता है, ये सब बातें ध्यान से देखी जाती थीं। यदि कोई विदेशी मर जाता, तो उसकी सम्पत्ति एकत्र करके उसके उत्तराधिकारियों को भेज दी जाती थी। तीसरी सभा जनता की मृत्यु-उत्पत्ति का खाता रखती थी। चौथी व्यापार का निरीक्षण करती थी। पांचवीं तैयारी माल जैसे कपड़ा, गहना आदि का निरीक्षण और छठी चुंगी वसूल करती थी।

ग्राम-शासन

ग्राम-शासन ग्रामपंचायतों के अधीन था, जिन्हें बड़े अधिकार थे। स्थानीय पुलिस, छोटे-छोटे अभियोगों का न्याय, आसपास की सड़क सुधारना उसी का काम था। इन पंचायतों के सदस्यों का चुनाव गांव के गृहस्थ करते थे।

अशोक के समय में प्रजा की दशा

यह बात पीछे बता दी गई है कि मौर्य साम्राज्य काल में प्रजा की दशा कैसी थी। ब्राह्मणों के यज्ञाडम्बर ने कितनी कुचाल ग्रहण की थी। सामाजिक नियन्ता और कर्मकाण्ड की प्रधानता थी। जहां ब्राह्मण-क्षत्रिय इस कर्मकाण्ड के पाखण्ड में फंसे थे, वहाँ सामान्य प्रजा में भांति-भांति के अन्ध-विश्वास फैले हुए थे, और इन अन्ध-विश्वासों के मूल स्तंभ तत्कालीन कुपढ़ ब्राह्मण थे, जो अपने जाति-गर्व के कारण कोई उद्योग तो कर ही न सकते थे, योग्य भी न थे, अतः धूर्तता, पाखण्ड और ठगविद्या से प्रजा की मूढ़ता बढ़ा रहे थे। बौद्ध-ग्रन्थों में इन ब्राह्मणों का बड़ा स्पष्ट वर्णन मिलता है। वहां इन्हें पूरा लोभी और पाखण्डी बताया गया है। उन ग्रंथों में ऐसे कामों की सूची भी दी गई है, जो ये ब्राह्मण लोग किया करते थे। उनमें से कुछ ये हैं—सामुद्रिक, फलित ज्योतिष, स्पष्ट विचार, चूहों के काटे हुए कपड़ों से भविष्य-फल निकालना, भूत-प्रेत निकालना, सर्प के मन्त्र पढ़ना, पशु-पक्षियों को मन्त्र पढ़कर वश में करना, किसी कन्या के ऊपर भूत-प्रेत, देवी-देवता आ गया हो, तो उसे उतारना, उससे बात करना, मंत्र-तंत्र का जप, मंत्र द्वारा किसी को नपुंसक बना देना, किसी को पुत्र की प्राप्ति कराना, श्री की पूजा करना और हवन करना। हवन में प्रायः पशुओं के मांस की आहुतियां देना और बचे हुए मांस को खा जाना।

बौद्ध-ग्रंथों में उन देवताओं के नाम भी दिए हुए हैं, जिनकी उस समय अधिक

पूजा होती थी । इनमें प्रधान वेन्दु (विष्णु), सक्क (शक्क-इन्द्र), प्रजापति (ब्रह्मा) सामवरुण सूर्य थे, और भी देवी-देवता थे जो नवीन थे। वैदिक देवता मित्र, पूषण, बसण्ड, मरुत, आश्विन, सावित्री आदि का प्रचार कम हो गया था । वायु की प्रतिष्ठा कम हो गई थी, अग्नि पूजा झगड़े की जड़ थी । अभिप्राय यह है कि उस समय में वैदिक-धर्म के नाम पर जनता में वहुत-से पाखण्ड और अन्ध-विश्वास थे ।

जैन और बौद्ध लोग हिंसा का सर्वथा त्याग किये हुए थे। बौद्ध-धर्म राष्ट्र-धर्म हो गया था ।

इसी काल में बौद्धों ने बुद्ध के दांत, हड्डी और उसकी स्पर्श की हुई प्रत्येक वस्तु पर मठ, स्तूप, स्तम्भ आदि बनाए । धीरे-धीरे बुद्ध की मूर्ति भी बनने लगी, और उसकी पूजा होने लगी, जिसका प्रभाव आगे पौराणिक जनता पर पड़ा। और उसने शिव, विष्णु आदि की मूर्तियां बनाकर पूजनी शुरू कर दीं ।

लोग सरल ज्ञान की अपेक्षा हठयोग की झूठी-सच्ची सिद्धियों के पीछे पड़ गए थे । भिन्न-भिन्न प्रकार से शरीर को कष्ट देकर रहना तप कहाता था। शरीर पर से बालों को नोंच डालना, सदा खड़े रहना, एड़ियों के बल बैठना, या चलना, कांटों पर सोना, शरीर पर धूल मले रहना, ये बातें महत्त्वपूर्ण मानी जाने लगी थीं ।

साधुओं की प्रतिष्ठा बढ़ गई थी—विशेष कर बौद्ध श्रमणों की। सिकन्दर के जीवन में ऐसी कुछ बातों का उल्लेख है, जो प्लूटार्क ने लिखी हैं—

"यह साधु सिकन्दर को बड़े दुःखद प्रतीत हुए, क्योंकि यह भारतीयों को लड़ने के लिए भड़काते थे, और जो नरेश सिकन्दर का साथ देते थे, उनका नाम कलंकित कर देते थे, इसीलिए सिकन्दर ने बहुतों को मरवा डाला। जो हो, इनकी यह देश-हितैषिता सर्वथा प्रशंसनीय थी ।

भारत से लौटते समय सिकन्दर ने दस दार्शनिकों को जिन्होंने उसको इस प्रकार की कई आपत्तियां पहुंचाई थीं, पकड़वा मंगवाया, उसने उनसे बड़े कठिन-कठिन प्रश्न पूछे—और उनमें जो सबसे बूढ़ा था, उसको पंच बना दिया । उसने यह भी कह दिया कि जो सबसे पहले गलत उत्तर देगा, वह सबसे पहले मारा जाएगा, और उसके पीछे और सब मार डाले जाएंगे ।

उसने पहले से पूछा –"जीवितों की संख्या अधिक है या मृतों की।" उसने उत्तर दिया—"जीवितों की, क्योंकि मृतों का तो अस्तित्व ही जाता रहता है ।"

दूसरे से पूछा गया—"सबसे बड़े जीव पृथ्वी पर होते हैं या समुद्र में ?" उसने कहा—"पृथ्वी पर, क्योंकि समुद्र पृथ्वी का ही एक टुकड़ा है।"

तीसरे से पूछा गया—"सबसे धूर्त कौन-सा जीव है ?"

उसने कहा—"वह, जिसको मनुष्य अभी नहीं जानता।" (संभवतः उसका तात्पर्य यह था कि मनुष्य सबसे धूर्त है, पर उसे आत्मज्ञान नहीं है।)

चौथे से पूछा गया—"तुमने सबास को विद्रोह करने पर क्यों उद्यत किया ?" उसने उत्तर दिया—"मैं चाहता था कि या तो वह मान के साथ जिये, या कायरों की भांति मर जाए।"

पांचवें से पूछा गया—"दिन बड़ा है या रात ?" (अर्थात् पहले दिन उत्पन्न हुआ या रात) उसने कहा—"रात से दिन एक दिन बड़ा है।" सिकन्दर को इस पर कुछ आश्चर्य करते देखकर उसने कहा—"गूढ़ प्रश्नों के उत्तर भी गूढ़ ही होने चाहिए।"

छठे से पूछा गया—"मनुष्य क्या उपाय करे कि लोग उसे प्यार करें ?" उसने कहा—"यदि तुम्हारे पास अधिकार है तो ऐसा मत करो कि लोग तुमसे डरें।"

सातवें से पूछा गया—"संसार में सबसे पवित्र वस्तु क्या है ?" उसने कहा—"वह हृदय, जो लेन-देन में साफ है।"

आठवें से पूछा गया—"जीवन प्रबल है या मृत्यु ?" उसने कहा—"जीवन, क्योंकि वह इतने कष्टों को सहता है।"

नवें से पूछा गया—"मनुष्य को कब तक जीना चाहिए।"

उसने कहा—"जब तक वह जीने को मरने से अच्छा न समझने लगे।"

फिर दसवें से पूछा गया—"इन्होंने कैसे-कैसे उत्तर दिए हैं ?"

उसने कहा—"सबने एक-से-एक बढ़कर गलत उत्तर दिए।"

सिकन्दर ने कहा—"तो सबसे पहले तुम मरोगे ?"

उसने कहा—"नहीं ! हां, तुम अपना वचन तोड़ना चाहो, तो दूसरी बात है, क्योंकि तुमने कहा था कि जो सबसे गलत उत्तर देगा, वह सबसे पहले मरेगा।" सिकन्दर ने उनको इनाम देकर विदा कर दिया।

एक दूसरे साधु ने, जिसका नाम यवनों के अनुसार कैलेनस था, बड़ी निडरता दिखलाई। सिकन्दर ने उसके पास आनेस्किट्स नामक व्यक्ति को उसे बुलाने के लिए भेजा। कैलेनस ने उसके साथ रुखाई का बर्ताव किया, और कहा कि यदि तुम मुझसे बात करना चाहते हो, तो नंगे हो जाओ, नहीं तो तुमको चाहे देवराज ने भेजा हो, तो भी मैं तुमसे बात न करूंगा। डैडेमिस-साधु ने सिवा यह पूछने के कि सिकन्दर ने इतनी लम्बी यात्रा क्यों की है ? कोई बात न की।

इन कहानियों से यह पता चलता है कि और उनमें चाहे जो कुछ दोष-गुण रहे हों, उस समय के साधुओं में स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान की मात्रा पर्याप्त थी। जगद्विजयी सिकन्दर ने ऐसे निर्भीक भाषण करना और उसके भेजे हुए चरों

का ऐसा निरादर करना, विशेषतः जब कि वह बहुत से साधुओं को प्राण-दण्ड दे चुका था, सामान्य बात न थी ।

आर्य-धर्म के अनुसार जो लोग साधु-संन्यासी होते थे, वे प्रायः वनों में रहते थे या देशाटन किया करते थे, परन्तु बौद्ध और जैन काल में यह प्रथा चल पड़ी कि साधु लोग विहारों या मठों में रहा करें। पहले इन मठों में वर्षा के चार महीनों में ही रहने की प्रथा थी, परन्तु पीछे से कुछ साधु प्रायः बारहों महीने रहने लगे। एक-एक मठ में सहस्रों साधुओं के लिए प्रबन्ध रहता था, इतने साधुओं के साथ रहने के कारण बहुत से नियमोपनियम बन गए, साधु-वर्ग का बल और प्रभाव भी बढ़ गया, मठाधीशों का अधिकार और प्रभाव भी बढ़ गया । एक नियत स्थान में रहने के कारण साधुओं का जीवन पहले की भांति कष्टमय नहीं रह गया । धीरे-धीरे यह प्रथा इतनी प्रबल हो गई कि आर्य-धर्म का पुनद्धार करते समय शंकराचार्य ने भी इसे बौद्ध-धर्म से लेकर अपने संन्यासियों के लिए प्रचलित कर दिया। उस समय इससे लाभ भी बहुत था, पर इसी का यह प्रसाद है कि आज दिन देश में लाखों निकम्मे, आलसी, स्वांगी साधु बनकर विषय-भोग कर रहे हैं— 'तपसी धनवन्त, दरिद्र गृही' ।

जिस समाज की आर्थिक दशा जितनी ही उन्नत होगी, उतनी ही उसकी आवश्यकताओं का विस्तार होगा। और, उन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उतने ही अधिक प्रकार के लोग उसमें पाएंगे । बौद्ध-काल में निम्नलिखित पेशे वालों का भिन्न-भिन्न स्थानों पर उल्लेख मिलता है। फीलवान, रथ हांकने वाले, तीर चलाने वाले, रसोई बनाने वाले, नाई, स्नानागारों में सेवा करने वाले, हलवाई, माली, धोबी, जुलाहे, डोलची बनाने वाले, कुम्हार, लेखक, मुनीम, सुघार, मिस्त्री, सोनार, लोहार, शस्त्रकार, संगतराश, चर्मकार, हाथी-दांत के कारीगर, रंगरेज, जौहरी, मछवाहे, कसाई, शिकारी और बहेलिये, मल्लाह, चित्रकार और मद्य बेचने वाले, यह तालिका बड़ी शिक्षा-प्रद है, क्योंकि यह स्पष्ट कह देती है कि उस समय की सभ्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। आजकल की सभ्य समाजों में जिन प्रधान पेशों के लोग रहते हैं, प्रायः सभी इसमें हैं ।

इन पेशे वालों के दस्तूर आजकल से मिलते-जुलते थे । प्रत्येक पेशों की एक पृथक बिरादरी या (उपवर्ण) होती थी, उसको पग या सेनिय (श्रेणी) कहते थे । सेनिय के बाहर का कोई मनुष्य उस वृत्ति को धारण नहीं कर सकता था, पर कभी-कभी सेनिय के सदस्य अन्य वर्ण वालों को भी अपना शिष्य बनाकर अपना रोजगार सिखला देते थे। यह सेनियां या पंचायतें आपस के बहुत से झगड़े निबटा दिया करती थीं। प्रत्येक सेनिय में एक सरपंच या चौधरी होता था, इस चौधरी को प्रमुख या जेट्ठक (प्रमुख जेष्टक) कहते थे । इन जेट्ठकों का राज-दरबार में बड़ा आदर होता था। जब नरेश सारी प्रजा को एकत्र करना चाहते, तो वह

प्रत्येक सेनिय के जेट्ठक के पास सूचना भेज दिया करते। यदि सेनियों में झगड़ा हो जाता, तो उसका निर्णय महासेट्ठी (महा श्रेष्ठी) अर्थात् राज के प्रधान कोषाध्यक्ष के यहां होता था।

यवन यात्रियों ने लिखा है कि लोग प्रायः हाथियों, घोड़ों, ऊंटों और गधों पर सवार होते थे। सम्भव है, उस समय गधे को छूना आजकल की भांति निषिद्ध न समझा जाता रहा हो। इक्के इन दिनों भी चलते थे। हाथी या चार घोड़ों की गाड़ी पर चढ़ना बड़ी प्रतिष्ठा का चिह्न था, यह आजकल की-सी ही बात देख पड़ती है।

लोगों के घर लकड़ी या पत्थर दोनों के बनते थे, पर बड़े-बड़े घरों में भी नीचे का भाग पत्थर का और ऊपर का प्रायः लकड़ी का होता था। चूने और ईंट से भी बराबर काम लिया जाता था। पत्थर और लकड़ी में कारीगरी भी बहुत दिखलाई जाती थी। साधारण लोगों के घर प्रायः एक मंजिल के होते थे, पर कहीं-कहीं सत्तभूषक प्रसादों (सप्तभूमिक प्रासाद) का भी नाम आता है। जब महल सात मंजिल के होते होंगे, तो धनिकों के भी घर तीन-तीन, चार-चार मंजिल के होते ही रहे होंगे। जैसे आजकल शहरों में घरों के चारों ओर प्रायः उद्यान नहीं होता, वरन् वह सीधी सकड़ के दोनों ओर खड़े रहते हैं, वैसे ही उस समय होता था। सामने एक बड़ा फाटक होता था। भीतर जाकर एक बड़ा आंगन मिलता था, जिसके चारों ओर कोठरियां होती थीं। यदि इनके ऊपर दूसरी मंजिल न हुई, तो खुली छत होती थी। छत को उपरिप्रासाद तल कहते थे। लकड़ी के घरों में भी खम्भों और सीढ़ियों के लिए पत्थर से काम लिया जाता था।

ऊपर पेशों की तालिका में स्नानागारों के सेवकों का उल्लेख हुआ है। यह पेशा अब भारत से लुप्त हो गया, क्योंकि दिल्ली जैसे नगरों में मुसलमानी स्नानागारों को छोड़कर अब स्नानागार ही नहीं रहे। परन्तु प्राचीन काल में प्रायः सभी देशों में सार्वजनिक स्नानागार होते थे। इनसे सामान्य स्नान के अतिरिक्त शरीर को और भी कई प्रकार के लाभ होते थे।

भारतीय स्नानागार दो प्रकार के होते थे—एक खुले, दूसरे बन्द। खुले स्नानागार तो बड़े-बड़े तालाब थे, जिनके चारों ओर सुन्दर पक्के घाट बने रहते थे। ऐसे तालाब तो आजकल भी बहुत हैं, पर बन्द स्नानागारों की प्रथा उठ गई। बन्द स्नानागार ऊंची जगह बनते थे। इनके बनाने में ईंट या पत्थर से काम लिया जाता था। चारों ओर बरामदा होता था, जिनमें बाहर की ओर जंगला लगा रहता था। भीतर तीन प्रधान कोठरियां होती थीं। इनकी दीवारों के नीचे का भाग तो ईंटों का होता था, शेष लकड़ी का। इस लकड़ी को चर्म से ढककर ऊपर से पलस्तर कर देते थे। पहले कमरे में लोग वस्त्रादि उतारकर बीच के कमरे में

जाते थे। यहां दीवारों से लगकर बैठने के स्थान बने होते थे और बीच में आग जलती रहती थी। यह गरम वायु का स्नान था, बीच-बीच में नहाने वालों पर गरम जल छोड़ा जाता था। जब भली भांति पसीना आ जाता, तब शरीर खूब मला जाता था। मलने के पीछे लोग तीसरे कमरे में जाते थे, जहां एक कुण्ड रहता था, इस कुण्ड के जल में स्नान करके स्नान-क्रिया समाप्त होती थी। आज-कल जिस 'टर्किशबाथ' की इतनी धूम है, वह इसका रूपान्तर है। सम्भव है, तुर्कों ने यह भारत से ही सीखा हो।

नगर के चारों ओर, एक दीवार (शहरपनाह) होती थी। इस में चार प्रधान फाटक होते थे। इसके अतिरिक्त चारों कोनों पर चार और फाटक होते थे। पूर्व से पश्चिम तक एक लम्बी सड़क—जिसे राज-मार्ग कहते थे—होती थी, और उत्तर से दक्षिण तक एक छोटी सड़क—जिसे महाकल या वामन कहते थे। बीच के चौरास्ते पर राजप्रासाद या नगर की सभा का भवन या ग्राम्य-पंचायत का खुला स्थान होता था। चारों कोनों में यही घरों के समूह होते थे। इनके और दीवार के बीच में जो रास्ता होता था, उसे मंगल वीथी कहते थे। इसी पर चलकर नगर की प्रदक्षिणा होती थी। उत्तर फाटक के अधिष्ठाता सेनापति (कार्त्तिकेय), दक्षिण के इन्द्र, पूर्व के ब्रह्मा और पश्चिम के यम थे। नगर की दीवार से सौ धनुष की दूरी पर यात्रियों के लिए विश्राम-शालाएं होती थीं। इनसे परे श्मशान और श्मशान से परे चाण्डालादि के घर होते थे। उत्तर-भाग में ब्राह्मणों, शस्त्रकारों, लोहारों और जौहरियों के घर थे। वायव्य कोण में बाजार और औषधालय थे। पूर्व भाग में क्षत्रियों और कई प्रकार के कारीगरों तथा अन्न, पुष्प, सुगन्ध आदि के व्यापारियों के घर थे। पूर्व की ओर शूद्र रहते थे। शेष जनता दक्षिण-भाग में रहती थी।

इस सामान्य वर्णन के पश्चात् पाटलिपुत्र का कुछ विशेष वर्णन करना भी रोचक होगा। वह गंगा और हिरण्यवाहा (सोन) के संगम पर बसा हुआ था। इसकी लम्बाई लगभग साढ़े चार कोस और चौड़ाई एक कोस से कुछ कम थी। इसके चारों ओर एक के पीछे एक तीन खाइयां थीं। दीवार में 64 फाटक और स्थान-स्थान पर 570 बुर्ज बने हुए थे। दीवार लकड़ी की थी, और उसमें भीतर से तीर चलाने के लिए छेद बने हुए थे, बीच में राजमहल था। महल के चारों ओर एक रमणीक उद्यान था, जिसमें फव्वारे लगे हुए थे। उसके खम्भों पर सोने के चादर चढ़े हुए थे, और सोने-चांदी के फूल, पत्ते, पक्षी आदि बने हुए थे। उसमें स्थान-स्थान पर सिंहासन रखे थे, और रत्नपूरित स्वर्णपात्रों से सुसज्जित था। मेगस्थनीज ने उसकी कारीगरी को फारस की कारीगरी से अच्छा लिखा है। कई सौ वर्ष पीछे जब फाहियान चीन से भारत आया, तो उसने इसे देखकर कहा कि यह मनुष्यों का नहीं, प्रत्युत दानवों का काम है। ठीक है, महाभारत में भी मय दानव की कारीगरी की बड़ी प्रशंसा की गई है।

11

बौद्ध काल की साम्पत्तिक अवस्था

प्राचीन बौद्ध काल की साम्पत्तिक अवस्था का वर्णन जातक, सुत्तपिटक, विनय पिटक, कौटिलीय अर्थशास्त्र और यूनानियों के भारत वृतान्तों में पाया जाता है।

जातकों से प्रकट होता है कि प्राचीन बौद्ध काल में जमींदारी प्रथा न थी। किसान अपनी भूमि के सर्वथा स्वामी हुआ करते थे। राजा किसानों से एक बार साल में उपज का दशमांश ले लेता था। इससे अधिक भूमि पर राजा का अधिकार न था। लावारिस भूमि राजा की गिनी जाती थी। बन भूमि भी राजा की सम्पत्ति थी। विशेष अवसरों और समारोहों पर किसान लोग राजा को भेंट दिया करते थे। राजा के आखेट के लिए भी किसानों को चरागाहें छोड़नी पड़ती थीं। दशमांश का निर्णय ग्राम-भोजक (गांव का मुखिया) करता था। यह वर्णन उन गांवों का है, जो राजाओं के अधीन थे। पर जहां प्रजातन्त्र होता था, वहां प्रजा से दशमांश प्राप्त करने का भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। नेपाल की तराई में जो एक अशोक का स्तम्भ समिन्देई गांव में मिला है, उसमें इस प्रकार के कुछ करों का भी जिक्र है, जो शाक्यों के प्रजातन्त्र में लिया जाता रहा होगा। उस स्तम्भ में लुम्बनी ग्राम समिन्देई का कर माफ करने का उल्लेख है। इसके सिवा कहीं कोई ऐसा प्रमाण नहीं नजर आता कि जिससे शाक्यों, लिच्छिवियों, मल्लों और और कोलियों के प्रजातन्त्रों में किसी भी प्रकार का कर लिये जाने की शंका उत्पन्न हो।

जातकों से पता लगता है कि प्रत्येक ग्राम में 30 से लेकर 100 कुटुम्ब तक रहते थे। ये ग्राम कई प्रकार के होते थे, जैसे—'जानयत' जो नगरों के निकट हुआ करते थे। 'प्रात्यन्त' (पच्यन्त) जो सीमाओं पर होते थे। गांवों के चारों ओर खेत, चरागाह जंगल होते थे। लोग चरागाहों में मुफ्त पशु चराते थे, मुफ्त लकड़ियां काट लाते थे। खेतों के कटने पर पशु उनमें चरने को छोड़ दिए जाते थे। खेतों को बोने का समय नियत था। ग्राम्य-पंचायतें सींचने के कुएं या नहरों की व्यवस्थाएं किया करती थीं। मुखिया की देख-रेख में पानी यथानियम सभी को बांटा जाता

था। गांव के कुल खेत एक घेरे में रहते थे। खेत प्रायः कुटुम्बों की गिनती से बराबर बंटे रहते थे, और फसल भी प्रायः बराबर बंटा करती थी। कोई किसान बिना मुखिया की आज्ञा न अपना खेत बेच सकता और न गिरवी रख सकता था। पिता के मरने पर बड़ा पुत्र कुटुम्ब का स्वामी बनता था। यदि कुटुम्ब की संपत्ति बंटती थी, तो सब भाइयों को खेत भी बंट जाते थे। स्त्रियों के आभूषण और वस्त्र उनकी निजी सम्पत्ति गिने जाते थे। लड़कियां माता की सम्पत्ति की अधिकारिणी रहतीं पर खेत में भागीदार नहीं हो सकती थीं। चरागाह और जंगलों पर सबका समान अधिकार था। पंचायत-गृह, अतिथि-शाला, सड़क, वन, बगीचे, कुएं इत्यादि पंचायत बनवाती थी। गांव वाले खूब खाते-पीते थे।

नगरों की संख्या बौद्ध-काल में कम थी। उस काल के 15-20 बड़े-बड़े नगरों के नाम मिलते हैं—

अयोध्या, बनारस, चंपा, कांपिल्य, कौशांबी, मथुरा, मिथिला, राजगृह, सूरत, साकेत, श्रीवस्ती, उज्जैन, वैशाली, तक्षशिला, पाटलिपुत्र आदि।

ये नगर चारों ओर दीवारों से घिरे रहते थे। नगर के चारों ओर चार फाटक रहते थे। जिनसे चारों ओर को चार बड़े-बड़े राज-मार्ग जाते थे। नगर में गलियां (वीथी) और मुहल्ले थे। एक-एक मुहल्ले में एक-एक पेशे के लोग रहते थे। बाजारों में कपड़े, तेल, साग-भाजी, फल-फूल, सोने-चांदी के गहने आदि सब प्रकार की वस्तुएं बिकती थीं। कौटिलीय अर्थशास्त्र में लिखा है कि प्रत्येक नगर में एक पण्यगृह (बाजार) होता था। यह चौकोर होता था, और पक्का बना होता था।

नगर में एक संस्थाध्यक्ष (व्यापार और वाणिज्य का मंत्री) रहता था, जो व्यापार और व्यापारियों की देख-भाल रखता था। माल बेचने वाला जब तक यह साबित न कर सके कि माल चोरों का नहीं है, तब तक उसे माल बेचने की आज्ञा नहीं मिलती थी। दुकानदारों के भाव और बाट भी यह मंत्री जांचता था। ठग को दंड मिलता था। वही मंत्री निर्ख तय करता था। मुनाफा निश्चय करता था। नगर फाटकों पर चुंगी-घर थे। बाहर से आये हुये माल का ब्यौरा वहां लिखा जाता था, और उनके माल पर मुहर लगाई जाती थी। चुंगी भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिए भिन्न थी।

नगरों में अनेक उद्यान, बगीचे, बावड़ी तालाब आदि हुआ करते थे। जातकों में 'सत्त भूमक-प्रासाद' (सतमंजिले मकानों) का वर्णन भी आया है। विनयपिटक में स्नानागार (हम्मामों) का उल्लेख है। जहां तेल मालिश करने और ठंडे तथा गर्म स्नानों का अच्छा प्रबन्ध था। जुआघर भी नगरों में होते थे। वेश्याओं की संभाल के लिए एक अफसर रहता था, जो गायिकाध्यक्ष कहलाता था। नगर में 'शूना' बूचड़खाने भी थे। इसके अध्यक्ष शूनाध्यक्ष कहाते थे। 'होलिया' शराब

पीने के अड्डे भी थे। उनके खुलने वे बन्द होने के कड़े नियम थे। आबकारी का दारोगा 'सुराध्यक्ष' कहलाता था।

नगर का अध्यक्ष 'नागरिक' कहलाता था। इसका काम नगर की देख-भाल करना, प्रत्येक घर का आय-व्यय जानना, जन-संख्या जानना, पालतू पशुओं की संख्या जानना, सफाई रखना, आदि था।

नगर के अधिकांश घर लकड़ी के ही थे। इसलिए आग लगने का डर रहता था। इसके लिए कई उपाय किये गये थे। नगर में एक भी छप्पर का घर न था। प्रत्येक दस घर के लिए एक कुआं था। सड़क के दोनों ओर पानी से भरे हुए घड़े रखे रहते थे। प्रत्येक गृहस्थ को अपने घर नसेनी, रस्सी, कुल्हाड़ी और चमड़े का थैला रखना पड़ता था। जो आदमी पड़ौस में आग लगने पर बुझाने नहीं जाता था, उस पर 12 पण जुर्माना होता था। और, यदि कोई जान-बूझकर आग लगा दे, तो वह जलती आग में डाल दिया जाता था।

आर्थिक उन्नति का प्रधान साधन व्यापार है। उस समय देश-काल के अनुसार व्यापार पर्याप्त था। भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों में आपस में तो व्यापार होता ही था, मध्य एशिया और मिस्र के यवन राज्यों तक के साथ यहां की वस्तुओं का विनिमय होता था। देश के भीतर माल बैलगाड़ियों पर चलता था, और देश के बाहर भारतीय जहाजों में।

उस समय का प्रधान सिक्का कर्षापण था। यह तांबे का होता था। सोने के सिक्कों का भी उल्लेख है, परन्तु चांदी के सिक्के शायद नहीं होते थे। विशेषत: हुंडियों से काम चलता था।

जहां धन होता है, वहां अपव्यय भी होता है। लोगों को मद्य और द्यूत का दुर्व्यसन था। शराबखाने राज्य के निरीक्षण में थे। उनमें ऋतु के अनुकूल पुष्प, गन्ध, आसन आदि रखे जाते थे। प्रत्येक शराबखाने में एक सरकारी चर यह देखने के लिए नियुक्त रहता था कि कौन कितना पीता है, और किसके पास कितना धन या आभूषण आदि है। यदि शराब पीने के पश्चात् किसी की चोरी हो जाती, तो मद्य बेचने वाले को उसकी क्षति पूरी करने के अतिरिक्त जुर्माना भी देना पड़ता था।

ग्रामों में जुआ खेलना मना था। नगर में प्रत्येक जुआ खेलने वालों के स्थान के लिए सरकार को कर देना पड़ता था, और जीत के धन में से 5) रुपया सैकड़ा सरकार का होता था। प्रत्येक जुआखाने में एक सरकारी कर्मचारी इस बात की लिए रहता था कि पासे ठीक हैं, खेल ईमानदारी से होता है, और सरकारी कर जांच के पूरा-पूरा दिया जाता है।

बौद्ध-काल, विशेषत: अशोक का समय, दो समयों के बीच में पड़ा था। एक ओर तो वह समय था, जिसको वैदिक काल कहते हैं। दूसरी ओर वह समय था,

जिसमें संस्कृत-भाषा का प्राधान्य था। जैसा कि सभी विद्वान जानते हैं, यह भाषा वैदिक भाषा से कई बातों में भिन्न है। इसलिए इसको संस्कृत (संस्कार की हुई, शोधी हुई) कहते हैं। इसी द्वितीय समय में मुख्य-मुख्य काव्य-ग्रंथ, पुराण, स्मृति और नीति-ग्रंथ रचे गये। इन धार्मिक और अर्ध-धार्मिक ग्रंथों के सिद्धांत प्राचीन काल से चले आते रहे हों, पर भाषा नवीन है।

इन दोनों के बीच में बौद्ध-काल पड़ा, इस काल में न तो वैदिक भाषा से काम लिया जाता था, न संस्कृत से। वैदिक भाषा कठिन और दुर्बोध होने के कारण छोड़ दी गई थी। संस्कृत की अभी उत्पत्ति हुई ही न थी। इस समय पाली से काम लेते थे। (लेखक के यह विचार त्रुटिपूर्ण है। स०)

पाली वस्तुतः किसी एक देश की भाषा न थी। मौर्य-साम्राज्य के उदय के पहले कौशल राज्य का बल बहुत बढ़ा हुआ था। उसके अन्तर्गत वर्तमान संयुक्त प्रांत, बिहार और नेपाल का बहुत-सा अंश था। इसलिए जो भाषा इसके कर्मचारियों, व्यापारियों आदि द्वारा बोली जाती थी, वह और प्रांतीय भाषाओं में प्रधान हो गई। यों तो ये सभी भाषाएं एक-दूसरे से मिलती-जुलती थीं। यही कौशल की भाषा पाली का मूल हुई। बहुत-से विद्वानों की सम्मति है कि इसका संस्कृत अर्थात् विशुद्ध रूप वह था, जो अवन्ती में बोला जाता था। अवन्ती-विद्या का केन्द्र था, इसीलिए वहां भाषा मार्जित हो गई। पीछे जब मगध-साम्राज्य का केन्द्र हुआ, तो इस भाषा पर मगध की बोली का रंग चढ़ा। अतः पाली कौशल, अवन्ती और मगध की बोलियों की एक प्रकार की खिचड़ी थी। इसलिए यह प्रायः सारे देश में सुगमता से समझी जाती थी। राजकार्य में भी इसीलिए इससे काम लिया जाता था। बुद्ध और महावीर ऐसे उपदेष्टा भी इसी से काम लेते थे। परन्तु पाली का रूप सदैव एक-सा न रहा। पहले-पहल तो शुद्ध पाली प्रचलित थी, पीछे से शिला-लेखों और राजपत्रों तथा धर्म-ग्रंथों में उसके शब्दों के मार्जित रूप दिये जाने लगे। लेखकों ने यह प्रयत्न करना आरंभ किया कि जहां तक हो सके, ऐसे शब्द लिखे जाएं, जो लेखक की विद्वत्ता प्रकाशित करें। अशोक के समय में यह प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई; यह बात उनके शिला-लेखों से स्पष्ट है। परिणाम यह हुआ कि पाली का रूप धीरे-धीरे संस्कृत ने ले लिया।

यह तो लेखकों की भाषा हुई, बोल-चाल की भाषा के लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता, पर जब विद्वानों की ऐसी प्रवृत्ति थी, तो शिक्षित लोग और उनकी देखा-देखी और लोग, विशेषतः पाटलिपुत्र, अवन्ति, काशी, श्रावस्ती, तक्षशिला आदि प्रधान नगरों के निवासी भी अपनी बोल-चाल में यथाशक्य संस्कृत का पुट देने का प्रयत्न करते रहे होंगे।

लिपियां भी कई प्रचलित थीं, पर अशोक के समय में प्रधान लिपि वही थी, जिसे ब्राह्मी लिपि कहते हैं। इसी लिपि से आवश्यक और क्रमागत परिवर्तनों

के पीछे हमारी वर्तमान देवनागरी लिपि निकली है बहुधा विद्वानों की यह सम्मति है कि लिखने की विद्या आर्यों ने स्वयं आविष्कृत न करके इराक या श्याम के निवासियों से सीखी थी। अक्षरों के साम्य आदि को देखकर उनका यह अनुमान है कि पहले बुद्ध से सौ-दो सौ वर्ष पूर्व भारतीय व्यापारी इस उपयोगी विद्या को उन देशों से सीख आए फिर धीरे-धीरे उसका प्रचार सारे देश में हो गया। अशोक के समय तक इसका इतना प्रचार हो गया था कि स्त्रियां तक लिखना जानती थीं, यद्यपि लिखने से इतना कम काम लिया जाता था कि मेगस्थनीज ने लिखा है कि ये लोग लिखना नहीं जानते। जो कुछ हो, अशोक के समय तक प्राचीन लिपि में भारतीय वर्णमाला के अनुसार बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था और स्वरों की ह्रस्व, दीर्घ मात्राओं के चिह्न प्रकट करने को भी निकाल लिये गये थे, जिनका पहले अभाव था।

यह सब था, परन्तु लिखने से बहुत काम नहीं लिया जाता था। राजकार्य तो बिना लिखने के चल नहीं सकता था। व्यापारियों को भी अपना बहुत-सा व्यापार व्यवहार लेखबद्ध करना पड़ता था। चिट्ठी-पत्री की भी प्रथा थी, पर पुस्तकें बहुत कम लिखी जाती थीं। क्या वैदिक धर्मावलंबी, क्या बौद्ध, क्या जैन, सभी धर्म-पुस्तकों को कंठस्थ रखना ही अच्छा समझते थे। इससे संभव है, एक लाभ यह रहा हो कि पुस्तकें अनधिकारियों के हाथों में जाने से बच जाती हैं, कुछ यह बात रही होगी कि प्राचीन काल से यही दस्तूर चला आता था, जैसे आजकल छापाखाना हो जाने पर भी हाथ की लिखी पुस्तकें श्रेष्ठ समझी जाती है, प्रत्युत अब भी विद्यार्थी उनको पूर्ववत् रट डालते हैं। इनमें उनके क्रमशः लोप हो जाने और प्रक्षिप्त अंशों के मिल जाने की आशंका थी।

उस समय कागज नहीं था। शिला-लेखों और दान-पत्रों (जो सोने या तांबे पर भी लिखे जाते थे) को छोड़कर कागज का काम भोज-पत्र और पेड़ों की छालों से लिया जाता था। इन पर अक्षर खोद कर एक प्रकार की स्याही लगा दी जाती थी जिससे अक्षर स्पष्ट हो जाते थे। फिर छेद कर सब पत्र एक साथ बांध दिए जाते थे।

पढ़ाने वाले या तो वैदिक धर्मावलम्बी ब्राह्मण थे या बौद्ध साधु, ब्राह्मण यथाशक्य द्विजातियों के अतिरिक्त औरों को न पढ़ाते रहे होंगे। वेदादि ग्रंथों का तो सुन लेना भी शूद्रों के लिए वर्जित है। यदि कोई शूद्र वेद-मंत्र सुन ले, तो उसके कानों में गला हुआ सीसा डाल देने का विधान है। परन्तु बौद्धों में ऐसे बन्धन न थे। उनमें कोई जाति-पांति की रुकावट न थी, न उनके पास कोई ऐसी विद्या थी, जिसे वे किसी वर्ग विशेष से गुप्त रखना चाहते हों। अतः उनके यहां सभी शिक्षा पाते रहे होंगे। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि उन दिनों में भी ब्राह्मणों का बहुत कुछ आदर था, पर प्राधान्य बौद्धों का था; जैसा कि प्रसिद्ध

पुरातत्वज्ञ डॉ० भाण्डारकर ने दिखलाया है। लगभग चार सौ वर्ष (युधिष्ठिराब्द 28890 से 32890 तक) के बीच का एक भी ऐसा शिला-लेख, दान-पत्र या अन्य लेख नहीं मिलता, जिससे यह सिद्ध हो कि किसी नरेश या सेठ-साहूकार ने ब्राह्मणों को कोई गांव, भूमि, विहार, भवन या धन आदि दिया हो, न कोई देव-मंदिर देख पड़ता है। यह प्रमाण पर्याप्त है।

नालंदा विश्वविद्यालय की नींव पड़ चुकी थी। कुछ सेठों ने उस स्थान में कुछ भूमि लेकर बुद्ध देव को अर्पित की थी। वहां साधु रहने लगे, और विद्यार्थी पढ़ने लगे। क्रमशः वह विहार से विद्यापीठ बन गया। यहां तक कि हर्षवर्धन के समय में वह केवल भारत ही नहीं, प्रत्युत सारी पृथ्वी में अप्रतिम विश्वविद्यालय हो गया। जिस संस्था में 10,000 मनुष्य न केबल निःशुल्क शिक्षा, वरन् अन्न-वस्त्र भी पाते हों, वह वस्तुतः असाधारण रही होगी। उसमें तत्कालीन जगत् की प्रायः सभी विद्याएं पढ़ाई जाती थीं। अशोक के समय तक उसका ऐसा विकास नहीं हुआ था। परन्तु जो विद्यालय रहे होंगे, विशेषतः ब्राह्मणों के विद्यालय, उनका क्रम न्यूनाधिक यही रहा होगा। और, यह भी निश्चय है कि शास्त्रार्थ के लिए ब्राह्मणों के यहां बौद्ध-ग्रन्थ और बौद्धों के यहां वैदिक-ग्रन्थ पढ़ाए जाते थे।

काशी, उज्जैन और तक्षशिला की बड़ी प्रसिद्धि थी। जहां तक जान पड़ता है, राज की नीति यह थी कि जो अध्यापक हों, उनकी रक्षा और सम्मान किया जाये। यदि आवश्यकता हो, तो भवन-निर्माण के लिए अथवा उनके तथा छात्रों के भरण-पोषण के लिए आर्थिक सहायता भी दी जाये।

शिक्षा-पद्धति मौखिक थी। हुएनसांग ने भी, जो इस समय के लगभग 1200 सौ वर्ष पीछे आये, अपने समय की पद्धति को मौखिक ही बतलाया है। पढ़ाने वाले दो प्रकार के थे—कुछ तो ऐसे विद्वान् थे, जो नगरों के पास आश्रमों में रहते थे। इनके साथ इनके विद्यार्थियों की टोली रहती थी। शिक्षा का प्रधान भार इन पर ही था। इनका लक्ष्य और ढंग वही था, जो प्राचीन काल के वशिष्ट, अंगीरा, याज्ञवल्क्य आदि कुलपतियों का था। (ऐसे ऋषि को, जिसके साथ 10,000 शिष्य रहते हों, कुलपति कहते थे) इनके अतिरिक्त परिव्राजक और भिक्षुक भी आवश्यक उपदेश, प्रधानतया आध्यामिक उपदेश, देते फिरते थे। प्रायः सभी नगरों और ग्रामों के बाहर इनके लिए विश्राम-भवन बने थे। वहीं लोग इनको भोजनादि दे जाया करते थे और इनका उपदेश सुना करते थे। इस सबका परिणाम यह था कि उस समय के शास्त्र, जैसे भी थे, उनका ज्ञान सामान्य जनता में व्यापक था। शिक्षा अनियार्य रही हो या न रही हो, पर प्रजा खूब शिक्षित थी। मेगस्थनीज ने लोगों की शिक्षा और मस्तिष्क की अवस्था का जो वर्णन किया है, उसका सारांश यह है—

"दार्शनिक दो प्रकार के हैं—ब्राह्मण और श्रमण। ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा अधिक है, क्योंकि उनके सिद्धान्तों में सामंजस्य अधिक है। अर्थात् उनके सिद्धान्तों में परस्पर विरोध नहीं है! गर्भाधान के समय से ही किसी-न-किसी विद्वान् के निरीक्षण में रहते हैं, पर विद्वान् (गर्भिणी) माता के पास जाते हैं, और उसके तथा उसके अजात बच्चे के लिए मन्त्र-तन्त्र पढ़ने के बहाने उसको समुचित परामर्श देते हैं। जो स्त्रियां उनकी बातें मन लगाकर सुनती हैं, उनकी सन्तति अच्छी होती है। जन्म के पीछे बच्चे एक-के-पीछे एक मनुष्य के निरीक्षण में रहते हैं, और ज्यों-ज्यों उनकी अवस्था बढ़ती जाती है, उनके शिक्षक भी उत्तरोत्तर अधिक विद्वान् होते हैं। दार्शनिक लोग नगर के सामने, अहाते के भीतर, एक कुंज में रहते हैं। बहुत सादगी से रहते हैं, और चटाइयों या मृगचर्मों पर सोते हैं। यह मांस और विषय-सुख से दूर रहते हैं, और अपना समय गम्भीर भाषणों के सुनने और जो कोई ज्ञान सीखना चाहें, उन्हें अपना ज्ञान सिखलाने में बिताते हैं। श्रोता थूकने को कौन कहे, बोलने और खांसने तक नहीं पाता। यदि कोई इस प्रकार की चूक कर बैठे, तो वह असंयमी समझकर वहां से निकाल दिया जाता है।"

"इस प्रकार 37 वर्ष विद्यालय में रह कर प्रत्येक व्यक्ति (विद्यार्थी) अपने घर जाता है, और तब वह पतला मलमल पहनता है, और अपने कानों और उंगलियों में सोने के आभूषण डाल लेता है, (यह स्नातक का चिन्ह है। आज से 2300 वर्ष पहले सामान्यतः 37 वर्ष का ब्रह्मचर्य होता था), तभी वह (अर्थात् गृहस्थ) मांस खाता है, परन्तु उन पशुओं का नहीं, जो भार उठाते हैं। वह जितनी स्त्रियों से चाहता है, विवाह करता है। उसके यहां दास तो होते ही नहीं, इसलिए वे काम-धन्धे से लिए बहुत के लड़के-बाले चाहते हैं।"

"ब्राह्मण लोग अपना ज्ञान अपनी स्त्रियों को नहीं सिखलाते। उनको यह डर रहता है कि यदि स्त्रियां दुराचारिणी हो गयीं, तो अनधिकारियों को विद्या बतला देंगी। दूसरा डर यह है कि यदि स्वयं अच्छी दार्शनिक हो गयीं, तो कदाचित् अपने पतियों को त्याग दें, क्योंकि जो जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख को समान दृष्टि से देखने लगता है, वह दूसरे के अधीन नहीं रह सकता।

ये लोग बहुधा मृत्यु के विषय पर विचार करते हैं। वह इस जीवन को उस समय से तुलना देते हैं, जब बच्चा गर्भ में रहकर तैयार होता है। वे समझते हैं, ज्ञानियों के लिए मृत्यु सच्चे और सुखमय जीवन का द्वार है। इसलिए ये लोग मृत्यु के लिए प्रस्तुत होने के लिए बड़े-बड़े संयम करते हैं। इनका सिद्धांत है कि मनुष्य पर जो कुछ बीतता है, वह न शुभ है न अशुभ। शुभाशुभ एक मिथ्या भ्रम है, नहीं तो वही वस्तु एक को सुखी और दूसरे को दुःखी कैसे बनाती, और एक ही मनुष्य को कभी सुखी, कभी दुखी करती?

प्राकृतिक दृग्विषयों के सम्बन्ध में इनके विचार बड़े स्थूल हैं, क्योंकि इन विचारों की उत्पत्ति कहानियों से हुई है। कई बातों में इनके विचार यवनों से मिलते हैं। यह भी सृष्टि को सादि और सांत (?) पृथ्वी को गोल और ईश्वर को व्यापक मानते हैं। इनका विश्वास है कि कई मूल तत्व इस विश्व में काम कर रहे हैं, और सृष्टि जल-तत्व से हुई है। यह चार महाभूतों (यवन दार्शनिक केवल क्षिति, अप, तेज और वायु को मानते थे) के अतिरिक्त एक पांचवां महाभूत (आकाश) भी मानते हैं। पृथ्वी इस विश्व का केन्द्र है। प्लेटो की भांति ये लोग भी अपने मोक्षादि सम्बन्धी सिद्धान्तों को रूपकों द्वारा प्रकट करते हैं।

श्रमणों में जो लोग हिलोविओई (?) कहलाते हैं, उनकी बड़ी प्रतिष्ठा होती है। ये वनों में रहते हैं, पत्तियों और बनैले फलों को खाते हैं, और छाल के बने कपड़े पहनते हैं। ये ब्रह्मचारी होते हैं, और मद्य-पान नहीं करते। राजा लोग दूतों को भेजकर इनसे घटनाओं के कारण पूछते हैं, और इन्हीं के द्वारा देव-पूजा करते हैं। हिलोबिओई के पीछे वैद्यों का सम्मान होता है। ये लोग भी सादगी से रहते हैं, पर बनवासी नहीं होते। ये लोग जौ का आटा और चावल खाते हैं। यह पदार्थ इनको बड़ी सुगमता से, मांगने मात्र से, मिल जाता है। अपने ज्ञान से यह सन्तान उत्पन्न करा सकते और यह बतला सकते हैं कि गर्भस्थ बच्चा लड़का होगा या लड़की। यह औषधि का प्रयोग तो कम करते हैं, पथ्य और भोजन का नियमित प्रबन्ध करके रोगी को अच्छा करते हैं। मरहमों और लेपों का अधिक प्रयोग होता है। अन्य औषधियों को ये लोग प्रायः हानिकर समझते हैं।

ये दोनों वर्ग (ब्राह्मण और श्रमण) सहनशीलता का बड़ा अभ्यास करते हैं। कभी-कभी ये दिन-दिन-भर एक ही आसन से निश्चल खड़े रह जाते हैं।

"इनके अतिरिक्त ज्योतिषी (रम्माल अर्थात् ऐसे लोग, जो ज्योतिष के पूर्ण विद्वान् न होते हुए भी यों ही इधर-उधर के लटकों से त्रिकाल की बातें बताने का दावा करते हैं) और ओझा (भूत-प्रेतादि को वशमें करने वाले या जादूगर) और प्रेत-कर्म जानने वाले (ऐसे लोग जो मृत्यु के पीछे के संस्कार कराते हैं, महा ब्राह्मण) भी होते हैं, जो ग्रामों और नगरों में भिक्षा मांगते फिरते हैं।

जो लोग बड़े विद्वान् हैं, वे भी परलोक के विषय में ऐसी-ऐसी अन्धविश्वास-मूलक बातों की शिक्षा देते हैं, जिनको सुनकर (और डर कर) लोग धर्माचरण करें। कहीं-कहीं इनके साथ स्त्रियां भी दर्शन-शास्त्र का अभ्यास करती हैं।

अशोक की राजाज्ञाओं से ही विदित होता है कि वे एक शिक्षित प्रजा के लिए निकाली गई थीं। अशिक्षित जनता उच्च कोटि की नैतिक दीक्षा को समझ ही नहीं सकती, उसके लिए जो धार्मिक उपदेश होगा, उसमें पद-पद पर स्वर्ग का प्रलोभन और नरक का भय विद्यमान होगा। वह कदापि ऐसी शिक्षा को ग्रहण न कर सकेगी जिसमें ईश्वर तक का पता न हो।

उस समय शिक्षित जनता के सामने क्या साहित्य था, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता । वेद तो थे ही, परन्तु तत्कालीन बौद्ध-ग्रन्थों में अथर्व वेद का कहीं नाम नहीं आता । इससे यही अनुमान होता है कि उस समय अथर्व वेद को और वेदों से पृथक् नहीं किया गया था । प्राचीन वैदिक धर्म की प्राचीन पुस्तकों में तीन ही वेदों का नाम आता है । कई स्थलों पर ऋक, यजु, साम के साथ-साथ 'अंगिरस' शब्द आता है, और वह अब अथर्व वेद के अर्थ में लिया जाता है, क्योंकि कहीं-कहीं अथवा 'गिरस' नाम भी आता है । पर यह स्पष्ट है कि अथर्व वेद और वेदों से पीछे बना था । वेदों के अपौरुषे यत्न पर ध्यान देते हुए यों कहिए कि उसके मंत्रों का संग्रह पीछे हुआ, और बौद्ध-ग्रन्थों के प्रमाण से ऐसा ज्ञात होता है कि कम-से-कम अशोक के समय तक यह काम नहीं हुआ था । गृह्यादि और सूत्र अवश्य रहे होंगे, नहीं तो लोगों को कर्मकाण्ड की शिक्षा कैसे दी जाती । स्मृतियों का प्रश्न टेढ़ा है । इसमें सन्देह नहीं कि बीज रूप से स्मृतियां रहीं होंगी, क्रम से इनके मुख्य सिद्धान्तों के अनुसार कार्यवाही होती रही होगी, अधिकांश विद्वानों की यह सम्मति है कि वर्तमान स्मृति-ग्रन्थ उस समय नहीं थे । मनुस्मृति भी, जो सबसे प्राचीन और प्रामाणिक मानी ज.ती है, गुप्त-काल अर्थात् अशोक से लगभग सात-सौ वर्ष पीछे की बनी मानी जाती है ।

उस समय सम्भवतः इतिहास-ग्रन्थ अर्थात् रामायण और महाभारत भी नहीं थे । इसका भी यही प्रमाण है कि बौद्ध-ग्रन्थों में इनका नाम नहीं मिलता । यह प्रमाण पर्याप्त नहीं है, पर अनुमान-जनक अवश्य है । इन कथाओं का मूल भाग रहा होगा, पर यह रूप जो अब देख पड़ता है, शायद नहीं था । इसी प्रकार पुराण भी न थे । पुराण तो अधिकांश बौद्ध-काल के पीछे बने हैं । क्योंकि इनमें बौद्धों और जैनियों का वर्णन, वह भी घृणा युक्त, मिलता है । अशोक तक का, प्रत्युत उनसे पीछे के नरेशों का, उल्लेख रहता है । यदि ये नाम ऋषियों के लिखे होते, और इनका कथन भविष्य-वाक्य होता, तो मुसलमान बादशाहों के भी नाम मिलते । पर पुराणों की भी प्रधान कथाएं प्रचलित रही होंगी । कई कथाएं जैसे राजा शिवि की कथा, कुछ रूपान्तर से बौद्ध-पुस्तकों में भी मिलती है । इन्हीं पुस्तकों में यह भी लिखा है कि समय-समय पर लोग 'अक्खान' आख्यान सुना करते थे । यह 'अक्खान' गद्य-पद्यात्मक होते थे । निःसन्देह यह आख्यान रामायण-महाभारत आदि की कथाओं के सदृश रहे होंगे । सम्भव है, उनके पद्य भाग में मूल रामायण या मूल महाभारत के बहुत-से श्लोक रहे हों । यह तो प्रसिद्ध ही है कि महाभारत 24000, 120,000 श्लोकों का हो गया है । षड्दर्शनों का कुछ भी पता नहीं लगता । न उनका कुछ जिक्र है । बौद्ध-साहित्य में त्रिपिटक और जातक थे, पंच निकाय भी थे । महाभारत अभी नहीं बना था, पाणिनि की अष्टाध्यायी और कात्यायन का वार्तिक

था। और भी कुछ व्याकरण ग्रन्थ थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र को उस काल का राजनीति-ग्रन्थ कह सकते हैं। आध्यात्म विषयों पर विवाद बहुधा हुआ करता था। और लोग इन गम्भीर विषयों में पूर्ण रुचि रखते थे। आभ्यान्तर और वाह्य कोई संघर्ष न था, चीन, यूनान, मिस्र, फारिस, सभी से मित्र भावनाएँ थीं। अथर्व वेद न था। कपिल को लोग जानते थे। रामायण और महाभारत को लोग नहीं जानते थे। महाभारत में यवनों और शकों का उल्लेख है। यवन तो चन्द्रगुप्त के समय में भारत में आ गये थे, परन्तु शक अशोक के समय तक नहीं आये थे। रामायण में पाटलिपुत्र और मगध के राज्य का नाम नहीं है। अयोध्या राजधानी लिखी गई है, पर बौद्धकाल में साकेत और श्रावस्ती हो गई थी। ज्योतिष के किसी ग्रन्थ और विद्वान का पता नहीं चलता। वैद्यक की चरक संहिता भी उस समय नहीं थी। बौद्ध-त्रिपिटक के चीनी अनुवाद से पता लगता है कि चरक कंमिष्ट के राजवैद्य थे, जो अशोक से लगभग 450 वर्ष पीछे हुए।

शिल्प खूब उन्नत था। शिल्पी लोग नगर के उसी भाग में रहते थे, जिसमें ब्राह्मण रहते थे। और उनके नाम के साथ आचार्य पद जोड़ा जाता था, जैसा कि दक्षिण में अब भी है। शिल्पकार के हाथ काटने या अंग-भंग करने वाले को मृत्युदण्ड मिलता था। प्रधान-प्रधान शिल्प राज से वेतन पाते थे। अधिकांश भवन लकड़ी के बनते थे। लकड़ी की कारीगरी बहुत उच्च थी। काशी का वृद्ध कालेश्वर का मन्दिर और आस-पास के खंडहर बौद्ध शिल्प के नमूने हैं। तीन प्रकार के मुख्य भवन बनते थे। राज प्रासाद, सरकारी भवन और धर्म-मन्दिर।

यह बात स्पष्ट होती है कि युधिष्ठिर के बाद चन्द्रगुप्त ही प्रथम सार्वभौम सम्राट थे। महाभारत के बाद से लेकर चन्द्रगुप्त के समय तक कोई साम्राज्य न बना था। शहरपनाह लकड़ी की बनाई जाती थी। धार्मिक मन्दिर बहुत कम थे, क्योंकि मूर्ति-पूजा नहीं थी। अशोक ने स्तम्भ और स्तूप बनवाने शुरू किए थे। साधु-लोगों के एक-दो बड़े-बड़े विहार थे, परन्तु बहुधा वे भ्रमण किया करते थे, केवल चातुर्मास में वे नगर के बाहर अस्थायी छप्परों में रहा करते थे। हिन्दुओं के मन्दिर और बौद्धों के विहार पीछे के बने हुए हैं।

हाल ही में एक शिला-लेख कलिंगराज खारवेल का मिला है, जो अशोक से लगभग 160 वर्ष पीछे जैन-धर्मानुयायी प्रतापी राजा हुए थे, उस पर 165 मौर्य-सम्वत दिया हुआ है, उसका विषय यह है—

"पांचवें वर्ष—तनसूलिय से राजधानी में वह नहर लाए, जो नन्दराज ने 3000 वर्ष पहले खुदवाई थी। उन्होंने प्राची नदी के दोनों ओर 'महा विजय प्रासाद' नामक राजमहल 38 लाख व्यय करके बनवाया।"

इस लेख से तत्कालीन परिस्थिति का एक अनुमान होता है।

दक्षिण भारत ज्ञात हो चुका था। अगस्त्य जी शिल्प और कृषि के आचार्य

थे, विन्ध्याचल पार करके दक्षिणा पंथ का आविष्कार कर चुके थे। चन्द्रगुप्त के महल को देखकर मेगस्थनीज ने कहा था कि वह महल सूसा और एकूताना के महलों से सुन्दर था। राजाओं के मकान सात मंजिले तक होते थे, जिन्हें 'सप्त भूयक प्रासाद' कहा गया है। मन्दिरों और मठों के आकार गुम्मजाकार होते थे। इनके प्रधान फाटक पर एक शिखर होता था। जिस पर खुदाई का काम होता था। पूर्व की ओर कमलदल की आकृति की एक खिड़की होती थी, जिसके द्वारा प्रकाश, प्रभात होते ही पवित्र स्थान पर पड़ता था, जो घर में नियुक्त था।

चन्द्रगुप्त के काल तक बौद्ध नगरों में न रहने पाते थे। उन्हें श्मशान के निकट रहने की आज्ञा थी। बौद्ध अस्थि भस्म पर स्तूप बनाने लगे थे। फिर वहां रहने पर भी वह स्थान उनके प्रसिद्ध और पवित्र हो गए।

मन्दिरों की बनावट ऐसी थी कि बाहर पर मण्डप होता था, और ऊपर या तो चौरस छत या गुम्बज होता था। मन्दिर के पीछे थोड़ा-सा स्थान पुजारियों या अन्य विशिष्ट पुरुषों के खड़े होने का होता था। इसे अन्तराल कहते थे। अन्तराल के पीछे वह कोठरी होती थी, जिसमें मूर्ति या पूज्य-सामग्री होती थी। इसे गर्भगृह कहते थे। वह चौकोर, गोल या अठपहलू तथा कमलाकार बनती थी। इसके ऊपर स्तूप या शिखर होता था। सारनाथ में जिस ढंग से छातों के नीचे मूर्तियां बैठी हैं, वैसे ही तब भी होती थीं। ये छाते, छत्र या राज-चिह्न समझे गये थे।

परन्तु ये सब परिवर्तन अशोक के बाद बड़ी शीघ्रता से हुए। अशोक के समय तक बुद्ध की पूजा नहीं होती थी। तब तक ये गुरु, पूज्य, संस्थापक और महात्मा थे, पर उपास्य देव नहीं। निर्वाण-प्राप्त तब तक धर्मपालन से होती समझी जाती थी—उपासना से नहीं। परन्तु उनकी अस्थियां और अंक प्रत्येक स्थान पर अवश्य गड़े थे। उनके प्रध.न शिष्यों तक के उन स्थानों पर स्म.रक बन गये थे, जहां-जहां विशेष घटनाएं हुई थीं। परन्तु पीछे जो बुद्ध की मूर्ति पूजी गई, तो चीन, ब्रह्मा, जापान, कोरिया, तिब्बत, तुर्किस्ता न, खोत.न, श्याम, वर्मा, अनाम, कंबोडिया, जाबा, लंका आदि दूर-दूर देशों तक में बुद्ध देव को स्वर्ण, रजक, तांबा, कांसा, पत्थर आदि की बनी प्रतिमाएं पुजने लगीं।

तत्कालीन शिल्पियों के सम्मुख एक कठिनाई थी। उन्हें मूर्ति बनाने की आज्ञा न थी, पर प्रतीकों द्वारा बुद्ध के जीवन की घटनाओं को प्रदर्शित करने की आज्ञा थी। ऐसी दशा में बोधि गया में बोध होना, एक वटवृक्ष के नीचे एक वेदी, जिस पर वह पूज्य-सामग्री रखी है, बनाकर तथा सारनाथ में धर्मोपदेश देना, एक धर्म चक्र द्वारा तथा कुर्सीनगर में देहान्त, एक स्तूप द्वारा समझाया गया।

शिल्प के इन नमूनों के सिवा—गया के पास बराबर पहाड़ी में आजीवक

साधुओं के लिए बना हुआ गुफा-गृह अच्छा उदाहरण है। श्रावस्ती, काशी आदि नगरों में अशोक के जो स्मारक हैं, उनकी कारीगरी उच्च कोटि की है। सारनाथ का सिंह-स्तंभ अपूर्व है। मरहुत और सांची के स्तूप इससे कुछ घटिया हैं। इस समय दो प्रकार के शिल्पी थे, एक प्रतिष्ठित—जो आचार्य कहाते थे, और उनका पद ब्राह्मणों के समान था। दूसरे, जो संदिग्ध वंश के या वेश्या और शूद्र की उत्पत्ति से थे।

अशोक ने उज्जैन की गवर्नरी के काल में एक वैश्य की पुत्री से विवाह किया था। पर राजा होने पर उसे त्याग देना पड़ा क्योंकि वह उच्च कुल की नहीं थी। उससे उसे एक पुत्र भी हुआ था। पाटलिपुत्र में आकर उसने कई विवाह किए। एक रानी का नाम कामवाकी था, जो कट्टर बौद्ध थी। एक प्रशास्ति में उसका हवाला है। एक महिषी का नाम असंधिमित्रा था, जो अशोक के जीवन में ही मर गई थी, जिससे उन्हें बहुत कष्ट हुआ था। वृद्धावस्था में उन्होंने तिष्यरक्षिता से विवाह किया था। इस स्त्री ने अशोक के धर्म जीवन और प्रशांत वृद्धावस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। इसे बुद्ध से तथा सम्राट् के के धर्म-भाव से घृणा थी। इसने बोधिवृक्ष को नष्ट कराने का षडयंन्त्र रचा, फिर इसने सौतेले पुत्र कुणाल पर कुदृष्टि की और उसकी आंखें फुड़वाईं। अन्त में वह सम्राट की आज्ञा से जीवित जलवा दी गई। वास्तव में अशोक जैसे महान् सम्राट् और धार्मिक पुरुष के लिए वृद्धावस्था में युवती से विवाह करना अतिशय निन्दनीय था। 38 वर्ष राज्य करके यह सम्राट मृत्यु को प्राप्त हुए।

अशोक के साथ मौर्य-वैभव भी विलुप्त हुआ। उनके बाद के राजा होने के के ठीक प्रमाण नहीं मिलते। भिन्न-भिन्न बातें हैं, जिन पर बहस करने का यह स्थान नहीं। उनकी मृत्यु पर साम्राज्य के कई टुकड़े हो गए। करद राज्य स्वाधीन हो गए। । कलिंग और आंध्र दोनों पृथक हो गए थे। इस प्रकार मौर्य साम्राज्य के ध्वंस होने पर मौर्यवंश भी विभाजित हो गया। प्रधान शाखा मगध में रही। पर उसका विस्तार घटता ही गया। अन्त में राजा बृहद्रथ को उसके सेनापति ने मार डाला, इसका उल्लेख हम मगध के राजाओं के वर्णन में कर ही चुके हैं।

चार वर्ण पूर्ववत् थे। परन्तु चारों के मेल से वर्णसंकरों की अनेक जातियां बन गई थीं। बौद्ध ग्रन्थों में इन्हें हीन जाति या हीन सिल्प(हीन शिल्प)कहा गया है इसमें चमार, चटाई बनाने बाले, जुलाहे, कुम्हार आदि थे।

चारों वर्णों में क्षत्रिय ब्राह्मणों की अपेक्षा श्रेष्ठ था। ज्ञान कांड उनके हाथ में तथा कर्मकांड ब्राह्मणों के हाथ में था, फिर राजदंड उनके हाथ में था, फिर बौद्ध और जैन दोनों के आचार्य क्षत्रिय थे, इसलिए इन दोनों वर्णों में चढ़ा-ऊपरी हो रही थी। बौद्ध साधुओं में राजकुमारों ने सम्मिलित होकर उनका महत्व बढ़ा

दिया था ।

वर्ण त्याग साधारण बात थी । रोटी-बेटी के लिए वर्ण की कैद न थी, पर कुछ नियम थे । जातक ग्रन्थों में ऐसे बहुत उदाहरण हैं। स्मृतिकाल में यद्यपि ब्राह्मण सेवा-कर्म को बुरा समझते थे, पर अशोक के काल में वे सेवा करते थे । मिस्त्री और बहेलिए का काम भी करते थे । ब्राह्मण क्षत्रियों का खान-पान और विवाह सम्बन्ध होता था । चाण्डालादि से विवाह करने वाले का सिर मूंड कर उस पर राख डाल दी जाती थी, और वह जाति से च्युत समझा जाता था ।

12

एकराज कनिष्क अन्तिम बौद्ध-सम्राट

जब आन्ध्रो का मध्य भारत में शासन चल रहा था, तब पश्चिमीय सीमा पर विदेशियों के आक्रमण हो रहे थे।

सिकन्दर के लौट जाने पर चन्द्रगुप्त ने सिन्धु नदी के प्रान्तों में यूनानी सेनापति सिल्यूकस को हरा कर यूनानियों को निकाल दिया था। परन्तु बेक्टिरिया में यूनानियों का एक स्वतंत्र राज्य था। हिन्दुओं तथा बेक्टिरिया के यूनानियों में लड़ाई-झगड़े चलते ही रहते थे। बेक्टिरिया के यूनानी सिक्के बनाने में बड़े निपुण थे। उनके सिक्कों से ईस्वी पूर्व 1 से 3 तक उनके सभी राजाओं की सूची बन गई है। कभी-कभी ये सिन्धु से आगे बढ़ जाते थे। बौद्ध सभ्यता में इसीलिए इनका इतना प्रभाव हुआ है कि बौद्धों के खंडहरों में यूनानी संगतराशों के चिह्न तथा बौद्ध राजाओं के सिक्कों में यूनानी लेख खुदे मिलते हैं।

ई० सन् 126 में यूची लोगों ने अन्य कुछ जातियों से मिल कर मध्य एशिया के रास्ते काबुल को जीता, और सिन्ध तक अपना अधिकार कर लिया। बेक्टिरिया राज्य का अन्त हो गया। इसी जाति का एक राजा हविश्क काबुल में राज्य करता था। वह वहां से भागा, और उसने काश्मीर को विजय कर लिया। उसी के वंश में प्रसिद्ध कनिष्क राजा हुआ, जो ईसा के उपरान्त प्रथम शताब्दी में काश्मीर की गद्दी पर बैठा था।

इस विजयी राजा ने अपना राज्य काबुल और यारकन्द से लेकर आगरे और गुजरात तक फैलाया। अशोक के बाद यही ऐसा प्रतापी राजा था। हुएन-सांग लिखता है—कि चीन के राजा इसके पास मनुष्यों को गिरवी रखते थे। यह कट्टर बौद्ध था। उसने उत्तरी बौद्धों की एक बड़ी संगीति की थी, तथा बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए दूत भेजे थे। शक सम्वत इसी से चला है। कनिष्क के बाद काश्मीर फिर खण्ड-खण्ड हो गया, और छोटा-सा राज्य रह गया। राजतरंगिनी नामक प्रसिद्ध संस्कृत इतिहास ग्रन्थ में—जो कल्हण ने 12वीं शताब्दी में बनाया था—इस बड़े राजा के समय का हाल इस प्रकार लिखा है—

कल्हण के मत में महाभारत-युद्ध से कनिष्क उत्तराधिकारी अभिमन्यु के समय तक 1266 वर्ष में 52 राजा हुए। इससे महाभारत का समय ईसा से 12 सौ वर्ष पूर्व सिद्ध होता है।

कनिष्क के वंशज बिलकुल हिन्दू नाम और बौद्ध-धर्म ग्रहण कर चुके थे। कनिष्क की 31वीं पीढ़ी में मातृगुप्त गद्दी पर था, जो उज्जैन के प्रतापी विक्रमादित्य का समकालीन था, विक्रमादित्य ने ही मातृगुप्त की सहायता की थी।

13

दो अमर चीनी बौद्ध-भिक्षु

प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान भारतवर्ष में लगभग ईसा की चौथी शताब्दी में आया और उसने अपनी यात्रा उद्यान यानी चमन के आसपास के देश से प्रारम्भ की। वह लिखता है कि वहीं से उत्तर-भारत की शुरुआत होती है। वहां का रहन-सहन, रीति-रिवाज मध्य-भारत से मिलता-जुलता है। उस समय वहां बौद्ध-धर्म का बड़ा भारी प्रचार था और उसके 500 संघाराम बने हुए थे। वह वहां के गांधार, तक्षशिला, पेशावर आदि बड़े-बड़े शहरों में गया। उसने पेशावर के एक अद्भुत, सुन्दर और सुदृढ़ ऊंचे बौद्ध-मीनार का अपनी पुस्तक में वर्णन किया है।

वह नगरहार आदि प्रांतों में यात्रा करता हुआ सिन्धु नदी को पार करके यमुना के किनारे पर बसे हुए मथुरा में पहुंचा। यमुना के दोनों तटों पर 20 संघाराम बने हुए थे और वहां लगभग तीन हजार बौद्ध-भिक्षु रहते थे। वहां का वर्णन वह इस प्रकार करता है—

''बियवान से आगे पश्चिमी भारत के देश हैं। वहां के (राजपूताने) सब राजा बौद्ध हैं। इसके बीच का देश मध्यदेश कहलाता है। वहां का जलवायु गर्म और एक-सा रहता है। वहां के लोग अच्छी अवस्था में हैं, उन्हें राज्य-कर नहीं देना पड़ता। न उन्हें राज्य की तरफ से कोई रोक-टोक है। केवल जो लोग राजा की भूमि को जोतते हैं उन्हें अपनी उपज का कुछ अंश राज्य को देना पड़ता है। वे जहां जाना चाहें जा सकते हैं और जहां रहना चाहें रह सकते हैं। अपराधियों को शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता, परन्तु उनकी दशा के अनुसार जुर्माना किया जाता है। अगर कोई कई बार राज-द्रोह करे तो उसका दाहिना हाथ काट लिया जाता है। राजा के शरीर-रक्षक जो उसके दाहिनी और बायीं ओर उसकी रक्षा करते हैं, नियत वेतन पाते हैं। सारे देश में केवल चांडालों को छोड़कर और कोई लहसुन या प्याज नहीं खाता, न जीव-हिंसा करता है और न कोई मदिरा ही पीता है। यहां के लोग सूअर या चिड़िया नहीं रखते और पशु का व्यापार नहीं

करते। बाजार में मदिरा की दुकानें नहीं हैं। बेचने-खरीदने में लोग कौड़ियों को काम में लाते हैं। केवल चांडाल लोग हत्या करके मांस बेचते हैं। बुद्ध के निर्वाण से लेकर आज तक यहां के राजा लोग विहार, मठ आदि बनवाते आये हैं और उनके खर्च के लिए खेत, मकान, बगीचे, गाय-बैल, नौकर आदि के दानपात्र खुदवाये जाते थे और एक के उपरांत दूसरे राजा के राज्य में वे स्थिर रहते थे। उन्हें छीनने का किसी ने उद्योग नहीं किया। अतएव उनमें अब तक कोई बाधा नहीं आई है। इनमें रहने वाले सब भिक्षुओं को बिछौने, चटाई, भोजन, पानी और कपड़े आदि अपरमित रूप से दिये जाते हैं। यही बात सब जगह है।"

फाहियान संकाश्य से होता हुआ तत्कालीन गुप्तों की महान् राजधानी कन्नौज में आया था। उसने वहां सिर्फ दो मठों के विषय में लिखा है। फिर वह कौशलों की प्राचीन श्रावस्ती में गया, पर अब वह उजड़ चुकी थी। वहां सिर्फ दो सौ घर थे, पर जेतवन की स्वाभाविक सुन्दरता ज्यों-की-त्यों विद्यमान थी, जहां बहुधा बुद्ध उपदेश दिया करते थे। कुंज, गुलाब तथा असंख्य रंग-विरंगे फूलों से सुशोभित उस विहार के संन्यासियों ने फाहियान और उसके मित्र के आगमन को सुनकर कहा—"बड़ा आश्चर्य है कि पृथ्वी की सीमा-प्रदेश के लोग धर्म की खोज की अभिलाषा से इतनी दूर आते हैं।"

गौतम की जन्म-भूमि कपिलवस्तु के विषय में फाहियान ने लिखा है—"इस नगर में न तो कोई राजा है और न प्रजा। उसमें संन्यासियों और गृहस्थों के कुल सौ घर हैं।"

कुशीनगर, जहाँ गौतम की मृत्यु हुई थी, वह भी अब उजड़ चुका था। वहां सिर्फ कुछ संन्यासी और उनके कुछ निकट सम्बन्धी रहते थे।

फाहियान ने प्रसिद्ध वैशाली के विषय में लिखा है—"बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष बाद वैशाली के कुछ भिक्षुओं ने दस बातों में से, विनय के नियम को यह कह-कर तोड़ दिया कि बुद्ध ने ऐसा करने की आज्ञा नहीं दी है। उस समय अर्हतों और सत्य-मतावलम्बी भिक्षुओं ने जो कि कुल मिलाकर सौ थे, विनय-पिटक को फिर से मिलान करके संगृहीत किया।"

गंगा को पार करके फाहियान पाटलिपुत्र में आया, जिसे पहले अजातशत्रु ने अपने उत्तरी शत्रुओं के आक्रमण को रोकने के लिए बनाया था और जो फिर अशोक की राजधानी रहा। यहां वह विशाल राजमहल था, जिसके भिन्न-भिन्न भागों को अशोक ने देवों से पत्थर मंगवाकर बनवाया था। कहते हैं—इसकी दीवार, द्वार, नक्काशी मनुष्यों की बनाई हुई नहीं प्रतीत होती है। उसके खण्डहर अब तक अवशेष हैं। अशोक के गुम्बज के पास एक विशाल संघाराम था, जिसमें स्वयं गुरु मंजुश्री और सात सौ भिक्षु रहते थे। फाहियान ने यहां पर धूम-धाम से किये जाने वाले बौद्ध-विधानों का वर्णन किया है। वह लिखता है—"प्रति वर्ष

दूसरे मास के आठवें दिन मूर्तियों की एक यात्रा निकलती है। इस अवसर पर लोग एक चार पहिये का रथ बनवाते हैं। उस पर बांसों को बांधकर उसे पाँच खण्ड का बनाते हैं। उसके बीच में एक-एक खम्भा रहता है, तो तीनफले भाले की तरह होता है और ऊंचाई में 22 फीट तथा इससे भी ऊँचा होता है। इस प्रकार यह एक मन्दिर की तरह दिखाई देता है। तब वह उसे एक बढ़िया श्वेत मलमल को भड़कीले रंगों से रंगते हैं। उसमें फिर देवों की मूर्तियों को सोने-चांदी और कांच के आभूषण पहनाकर कामदार रेशमी चंदोवे के नीचे बैठाते हैं। वह तब रथ के चारों कोनों पर ताखा बनाते हैं और उनमें बुद्ध की मूर्तियां बनाते हैं जिनकी सेवा में एक-एक बोधि सत्व खड़ा रहता है। इसी प्रकार के लगभग 20 रथ बनाये जाते हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार से सजाये जाते हैं। इस दिन दूर दूर से अनेकों संन्यासी और गृहस्थ इकट्ठे होते हैं और जब वह धूप और फूल चढ़ाते हैं तो बाजा बजता है और खेल होते हैं। तब ब्रह्मचारी पूजा करते हैं। फिर बौद्ध लोग एक-एक करके नगर में प्रवेश करते हैं। नगर में आने पर वह फिर ठहरते हैं और रात-भर रोशनी, गाना-बजाना, खेल-कूद, पूजा आदि होती रहती है।"

ईसा की पांचवीं शताब्दी में बौद्ध-धर्म ने बिगड़कर जो मूर्ति-पूजा का रूप धारण किया था, उसका यह जीता-जागता आंखों देखा अमूल्य वृत्तांत है।

इससे भी अधिक मनोरंजन वृत्तांत फाहियान ने पाटलिपुत्र के धर्मार्थ चिकित्सालयों का लिखा है। वह लिखता है—

"इस देश के अमीर गृहस्थों ने नगर में चिकित्सालय बनवाये हैं, जहां हर देश के लूले-लंगड़े या अन्य रोगग्रस्त रोगी रह सकते हैं। वहां वह हर प्रकार की सहायता पाते हैं। चिकित्सक उनके रोगों की परीक्षा करता है और रोग के अनुसार उनके खाने-पीने, दवाई, काढ़े और अन्य सुख की सामग्रियों के लिए आज्ञा दे देता है। आरोग्य होने पर वह अपनी इच्छानुसार चले जाते हैं।"

फाहियान ने राजगृह के उस मठ के विषय में, जो कि बुद्ध की मृत्यु के उपरांत पवित्र पाठों को संगृहीत करने के लिए बनवाया गया था, लिखा है— "पर्वत के उत्तरी ओर एक चेति नाम की पत्थर की गुफा है। यहीं बुद्ध के निर्वाण के बाद पवित्र पुस्तकों को संगृहीत करने के लिए 500 अर्हत् एकत्रित हुए थे।"

गया को फाहियान ने उजड़ा पाया। उसने वहां बोधिवृक्ष और बुद्ध से सम्बन्ध रखने वाले सब स्थानों को देखा, उसने बनारस में जाकर उस मृगदाय को देखा, जहां पहले बुद्ध ने सत्य-धर्म को प्रकट किया था। उस समय वहां दो संघाराम बन गए थे। वहां से वह कौशाम्बी और बनारस होते हुए फिर पाटलिपुत्र को लौटा। वह विनयपिटक की हस्तलिखित लिपि की खोज में उत्तरी भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में घूमा, पर वहां ये आज्ञाएं केवल मौखिक थीं। उसे कोई

मूल ग्रन्थ न मिला। आखिर मध्य-भारत के एक बड़े संघाराम में उसे आज्ञाओं का एक संग्रह मिला।

गंगा के किनारे-किनारे फाहियान पूर्वी बिहार की राजधानी चम्पा में होता हुआ ताम्रपल्ली में आया, जोकि उस समय गंगा के मुहाने पर एक बड़ा भारी बन्दरगाह था। वहां चौबीस संघाराम थे और उनमें रहने वाले भिक्षु साधारणतः बुद्ध की आज्ञाओं का पालन करते थे। फाहियान ने यहां पर दो वर्ष तक ठहरकर पवित्र पुस्तकों की नकल की और मूर्तियों के चित्र उतारे। वहां से उसने एक सौदागरी जहाज में बैठकर लंका की ओर प्रस्थान किया। 14 दिन और 14 रात की यात्रा के उपरांत वह लंका में पहुंचा। वह लिखता है—"लंका में पहले कोई बस्ती नहीं थी। पहले-पहल वहां कुछ व्यापारी आकर बसे और धीरे-धीरे वह एक बड़ा राज्य हो गया। फिर बौद्धों ने वहां जाकर अपने धर्म का प्रचार किया। नगर के उत्तर की ओर 479 फीट ऊंचा एक बड़ा गुम्बज और एक संघाराम था, वहां पांच हजार संन्यासी रहते थे।"

लंका में दो वर्ष तक रहकर फाहियान ने विनयपिटक और अन्य ग्रन्थों की, जो चीन में अब तक विदित नहीं थे, नकल की। एक अवसर पर एक व्यापारी ने बुद्ध की एक 22 फीट ऊंची रत्न-जड़ित मूर्ति को एक चीन का बना हुआ पंखा भेंट किया। उसे देखकर फाहियान को अपनी मातृभूमि का स्मरण हो आया, वह बहुत उदास हुआ और उसकी आँखों में आँसू आ गये।

लंका से वह एक बड़े भारी जहाज में बैठकर अपने देश को रवाना हुआ। बीच में बड़ा भारी तूफान आया, और जहाज के व्यापारियों ने बहुत-सा माल समुद्र में फेंक दिया। फाहियान ने भी अपना एक घड़ा और कटोरा समुद्र में फेंक दिया। उसे डर था कि कहीं व्यापारी उसके उन पवित्र ग्रन्थों और चित्रों को समुद्र में न फेंक दें जिनके लिए उसने इतने कष्ट सहे हैं। तेरह दिन बाद तूफान शांत हुआ और उन्होंने एक छोटे-से टापू पर जहाज ठीक करके पुनः समुद्र में प्रस्थान किया। निरन्तर 90 दिन की यात्रा के बाद जहाज जावा या सुमात्रा पहुंचा। वह लिखता है—"इस देश में ब्राह्मण और नास्तिक अधिक रहते हैं।"

फाहियान पांच मास जावा में ठहरकर एक दूसरे सौदागरी जहाज पर बैठकर अपने देश चीन को रवाना हुआ। बीच में फिर एक बड़ा जबर्दस्त तूफान आ गया। इस पर उन मूर्ख ब्राह्मणों ने कहा कि इस सामन को (फाहियान को) बिठाने के कारण ही यह तूफान आया है और उन लोगों ने उसे बीच में ही उतार देने का निश्चय किया। पर फाहियान के संरक्षक ने बड़ी वीरता के साथ उसका साथ दिया, और निरन्तर 82 दिन की यात्रा के उपरांत वह लोग चीन के दक्षिणी किनारे पर पहुंच गये।

दूसरा चीनी यात्री हुएन-सांग फाहियान से लगभग 200 वर्ष बाद ईसा की

सातवीं शताब्दी के आरम्भ में फर्गन, समरकन्द, बुखारा और बलख होता हुआ भारतवर्ष आया था। यह बहुत वर्षों तक भारतवर्ष में रहा। वह सन् 629 ई० में चीन से चला और 645 ई० में वापिस चीन पहुंचा था। उसके वर्णन सातवीं शताब्दी के भारतवर्ष के सामाजिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। वह लिखता है—

"जलालाबाद की प्राचीन राजधानी नगरहार घेरे में चार मील थी। यहां के लोगों का चाल-व्यवहार सादा और सच्चा था। उनके स्वभाव उत्साहपूर्ण और वीरोचित थे। यहां बौद्ध-धर्म का बड़ा प्रचार था, परन्तु यहां हिन्दू-धर्मावलम्बी भी रहते थे। उनके पांच शिवालय और लगभग 100 पूजा करने वाले लोग थे। नगर के पूर्व की ओर अशोक का बनाया हुआ 300 फीट ऊंचा स्तूप था, जो कि बहुत ही सुन्दर कामदार पत्थरों और अद्‌भुत रीति से बनाया गया था। यहां बहुत से संघाराम थे। नगर के दक्षिण-पश्चिम में चार मील पर एक संघाराम था। जिसमें ऊंची दीवार और ढेर किये हुए पत्थरों का कई खण्ड का एक बुर्ज और 200 फीट ऊंचा एक स्तूप था। गांधार राज्य की राजधानी पेशावर थी। नगरहार तथा गांधार दोनों ही उस समय हिन्दुकुश के निकट के राजा के आधीन थे और उसी के नायक इन देशों में राज्य करते थे। गांधार में इस समय बहुत कम आबादी रह गई थी। नगर में अन्न बहुतायत से पैदा होता था और प्रजा गरीबों पर प्रीति रखती थी। उस समय यहां एक हजार संघाराम और 100 मन्दिर उजाड़ और टूटी-फूटी दशा में पड़े थे।"

गांधार राज्य के वर्णन के सिलसिले में उसने एक विद्वान् बौद्ध लेखक मनोहृत के विषय में लिखा है—"मनोहृत विक्रमादित्य की सभा में रहता था। विक्रमादित्य हिन्दू और हिन्दू विद्या का रक्षक था। एक दिन धर्म-सम्बन्धी वाद-विवाद पर सभा में मनोहृत का अपमान हुआ और उसने यह कहते हुए उस सभा को छोड़ दिया कि—"पक्षपातियों के समूह में न्याय नही रहता।" परन्तु विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी शिलादित्य विद्वानों का संरक्षक था, उसने मनोहृत के शिष्य वसुवन्धु का सत्कार किया। इससे सब दूसरे पण्डितों नें सभा को त्याग दिया।" हुएन-सांग लिखता है—"शीलादित्य मेरे समय से 60 वर्ष पहले अर्थात् सन् 580 ई० के लगभग हुआ था।" इससे विक्रमादित्य के राज्य का समय 550 ई० पहले निश्चित होता है, और यह हमारे निश्चित किए हुए समय से मिलता है।

हुएन-संग पौलुस नगर के पास के एक ऊंचे पर्वत पर गया। वह लिखता है—यह उसने नीले पत्थर को काटकर बनाई हुई भीम या दुर्गा की एक मूर्ति देखी। जिसके दर्शन करने दूर-दूर से यात्री आते थे। पर्वत के नीचे उसने एक महेश्वर का मन्दिर भी देखा जहां शरीर में राख लगाये हुए हिन्दू संन्यासी पाशुपत पूजा

के लिए आते थे। यहां से वह पाणिनी के जन्म-स्थान सलातुर में गया था।

उद्यान अर्थात् काबुल के चौतरफ के देश के संघारामों को हुएन-सांग ने उजाड़ पाया। सिन्धु नदी को पार करके वह छोटे तिब्बत में पहुंचा। वहां के विषय में वह लिखता है—वहां सड़कें ऊंची-नीची और बहुत ही ढलुवा हैं, गुफाएं अंधकारमय हैं। कहीं रस्सों और कहीं फैले हुए लोहे के सिक्कड़ों द्वारा नालों को पार करना पड़ता है। खंदकों के आर-पार हवा में लटके हुए पुल हैं।

हुएन-सांग तिब्बत से तक्षशिला और सिंहपुर में गया, जो कि काश्मीर राज्य के आधीन थे। सिंहपुर में उसे श्वेताम्बरी और दिगम्बरी लोग मिले। उनके विषय में लिखता है—"उनके सिद्धांतों के नियम अधिकांश बौद्ध-सिद्धांतों से लिये गये हैं। अपने पूज्यदेव महावीर की मूर्ति को वे चोरी से तथागत अर्थात् बुद्ध की श्रेणी में रखते हैं। उसमें केवल कपड़े का भेद रहता है, सुन्दरता में वह बिलकुल एक-सी होती है।" हुएनत्संग का विचार था कि जैनियों का सम्प्रदाय कुछ बौद्धों के जुदा होने से बन गया है।

वह लिखता है—काश्मीर का घेरा 1400 मील है और उसकी राजधानी ढाई मील लम्बी और एक मील चौड़ी है। यहां की जलवायु ठण्डी और कठोर है। यहां के लोग भीतर चमड़े के कपड़े और ऊपर सफेद पट्टुए पहनते थे। वहां के लोग हल्के, तुच्छ, निर्बल और कायर स्वभाव के होते हैं। उनका चेहरा सुन्दर होता है, पर वह पक्के धूर्त होते हैं। पर वे विद्या-प्रेमी और सुशिक्षित होते हैं। वहां 100 संघाराम और 500 संन्यासी थे। काश्मीर में अब तक कनिष्क का यश फैला हुआ था।

हुएन-सांग कनिष्क के विषय में लिखता है—"बुद्ध के निर्वाण के 400 वर्ष बाद गांधार का राजा कनिष्क राजगद्दी पर बैठा। उसके राज्य का यश दूर-दूर तक फैला। उसने दूर-दूर के देशों को अपने आधीन किया।" इससे सिद्ध होता है कि कनिष्क अशोक के 300 वर्ष उपरांत अर्थात् 78 ई० में हुआ। यह तिथि हमारी दी हुई तिथि तथा शाक्य सम्वत् से मिलती है। हुएन-सांग कनिष्क के समय मे हुई उत्तरी-बौद्धों की सभा के विषय में लिखता है—"वहां 500 अर्हत् एकत्रित हुए थे। उन्होंने तीन टीकाएं बनाईं—1. उपदेश शास्त्र—जिसमें सूत्रपिटक की एक टीका है। 2. विनय विभाषा-शास्त्र—जिसमें विनयपिटक की टीका की है। 3. अभिधर्म विभाषा-शास्त्र—जिसमें अभिधर्मपिटक की व्याख्या है। वह कनिष्क के विषय में लिखता है कि चीन के अधीनस्थ राजा इस भारत-सम्राट् के पास अपने विश्वासी आदमी भेजते थे। वह उनके साथ बड़े आदर का बर्ताव करता था। उसने उनके रहने के लिए रावी और सतलज के बीच का देश नियत किया था। चीनी लोगों ने भारत में नाशपाती और शफ्तालू का प्रचार किया था। इसीलिए शफ्तालू का नाम चीनानी और नाशपाती का नाम 'चीन राजपुत्र' रखा गया था।"

हुएन-सांग ने बौद्धों के शत्रु मिहिरकुल के विषय में लिखा है—"कुछ शताब्दी पूर्व मिहिरकुल ने रावी के पश्चिम साकल के नगर में अपना अधिकार जमाया। इस भयंकर मिहिरकुल ने 5 खण्डों में पुजारियों तथा संघारामों को नष्ट करने की आज्ञा दी, जिससे उसका नामोनिशान भी न रहे, और उसने बौद्ध-धर्म के अन्त करने का निश्चय किया। इस प्रबल राजा ने मगध के राजा बालादित्य पर आक्रमण किया, पर वहां वह पकड़ा गया और अपमानपूर्वक फिर छोड़ दिया गया। वहाँ से वह काश्मीर गया और वहाँ राजद्रोह पैदा करके वहां के राजा को मारकर काश्मीर की गद्दी पर स्वयं बैठ गया। उसने गांधार को विजय करके वहां के राजवंश को जड़ से उखाड़ डाला। बौद्ध-धर्म के स्तूपों और संघारामों को तहस-नहस कर डाला। इस अवसर पर उसने सिन्धु नदी के तट पर तीन लाख मनुष्यों का वध किया।" इसमें शायद कुछ अत्युक्ति हो, पर यह सिद्ध है कि मिहिरकुल बौद्धों का प्रबल विरोधी था।

हुएन-सांग सतलज के देश को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। वह लिखता है—"इस देश का घेरा 400 मील और इसकी राजधानी का साढ़े तीन मील है। इस देश में अन्न, जल, सोना, चांदी और रत्न आदि बहुतायत से पैदा होते हैं। यहां के लोग बड़े सदाचारी, नम्र, प्रसन्न, पुण्यात्मा और बौद्ध-धर्म पर विश्वास रखने वाले हैं। परन्तु संघारामों में बहुत कम पुजारी रहते हैं। मथुरा के देश का घेरा एक हजार मील है और यहां की राजधानी का घेरा चार मील है। यहाँ की जमीन बड़ी उपजाऊ है। यहाँ के लोग सुशील, नम्र, धर्म-प्रेमी और विद्या-प्रेमी हैं। यहाँ बीस संघारामों में लगभग 2000 पुजारी रहते हैं। व्रत के तीनों महीनों यानी पहले, पांचवें और नवें महीनों के छः-छः व्रत करने वाले दिनों में स्तूपों की पूजा करते हैं, वे लोग अपनी रत्नजड़ित पताकाओं को खड़ी करते हैं। बहुमूल्य छातों के झुंड जालों की तरह दीख पड़ते हैं। धूप का धुआं बादल की तरह उठता है, वृष्टि की तरह फूल बरसाये जाते हैं, सूर्य और चन्द्रमा उसमें इस भांति छिप जाते हैं, मानो घाटियों पर बादलों से ढक लिये गए हों। देश का राजा, मन्त्री और बड़े-बड़े लोग इन धर्म-कार्यों में बड़े उत्साह के साथ भाग लेते हैं।

थानेश्वर के राज्य के विषय में वह लिखता है—"इस राज्य का घेरा 1400 मील और इसकी राजधानी का 4 मील है। यहां की जलवायु अच्छी और जमीन उपजाऊ है। इसकी राजधानी प्राचीन कुरुक्षेत्र के युद्ध-स्थल के निकट है।"

महाभारत के युद्ध के विषय में वह लिखता है—"दो राजाओं ने पांचों खंडों को परस्पर में बांट लिया और यह घोषणा की कि जो कोई भी इस भावी युद्ध में मारा जायेगा, वह मुक्ति प्राप्त करेगा। वहां लकड़ियों की तरह मृतकों के ढेर लग गये और उनकी हड्डियों से आज भी सर्वत्र वह भूमि ढकी हुई है।"

हुएन-सांग फिर 'श्रघ्नु' (उत्तरी द्वार) के राज्य में आया, जिसके पूर्व में गंगा और उत्तर में हिमालय था और जिसका 1200 मील का घेरा था। यही प्राचीन कुरु लोगों की भूमि थी। विस्तृत समुद्र की तरह लहराती हुई गंगा की लहरों को देखकर हुएन-सांग आश्चर्यान्वित हुआ। मतिपुर (पश्चिमी रुहेलखण्ड) जिसका घेरा 1200 मील था, उसका वर्णन करने के बाद उसने गंगा के उद्गम स्थान मायापुरी (हरिद्वार) का वर्णन किया है। वह लिखता है—"इस नगर का घेरा 4 मील है। नगर से थोड़ी ही दूर पर गंगा के तट पर एक विशाल मन्दिर है, जहां अनेकों चमत्कार किये जाते हैं। उसके बीच में एक तालाब है, जिसके तट कारीगरी के साथ पत्थर के बने हैं। उसमें से गंगा एक नहर के द्वारा बहाई गई है। पंजाब के लोग उसे 'गंगा द्वार' कहते हैं। गंगा को लोग असंख्य पाप धोने वाली मानते हैं। यहां हमेशा हजारों लोग दूर-दूर से जल-स्नान करने के लिए आते हैं।" इस उद्धरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि हरिद्वार सातवीं शताब्दी में ही हिन्दुओं का एक प्रसिद्ध तीर्थ बन गया था।

हुएन-सांग हिमालय के नीचे के देश ब्रह्मपुर का वर्णन करता है कि—"वहाँ सोना बहुत मात्रा में निकलता है। वहां बहुत काल तक स्त्रियां ही शासन करती रही हैं, इसलिए वह स्त्रियों का राज्य कहलाता है। शासक-स्त्री का पति राजा कहलाता है। पर वह राज-काज के विषय में कुछ नहीं जानता। पुरुष केवल युद्ध का प्रबन्ध करते और भूमि जोतते हैं।" यह वर्णन निस्सन्देह हिमालय के नीचे के देशों की पहाड़ी जातियों का है। इन लोगों में अब तक भी एक स्त्री का अनेक पतियों के साथ विवाह करने की रीति प्रचलित है।

अन्य कई देशों में होता हुआ हुएन-सांग कान्यकुब्ज में आया, जिसे दो हजार वर्ष की सभ्यता का सत्कार प्राप्त था। क्योंकि जब मगध असभ्य आदिम वासियों का राज्य था, उस समय पांचालों ने अपनी सभ्यता में उन्नति की थी। यद्यपि मगध ने बिंबसार, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त तथा प्रतापी अशोक आदि राजाओं के समय में सर्वोच्चता प्राप्त की थी, किन्तु ई० सन् के कुछ ही शताब्दियों बाद कान्यकुब्ज ने पुनः अपना महत्त्व प्राप्त किया और वह गुप्त सम्राटों का प्रधान देश हो गया। शीलादित्य द्वितीय की सभा इसी कान्यकुब्ज में हुई थी।

हुएन-सांग ने कान्यकुब्ज के राज्य के विषय में लिखा है कि—"इसका घेरा 800 मील है। इसकी राजधानी 4 मील लम्बी और 1 मील चौड़ी थी। नगर के चारों ओर खाई और आमने-सामने दृढ़ और ऊंचे बुर्ज थे। यहां के लोग सुखी और सम्पन्न थे। वे विद्या-प्रेमी, कुलीन, निष्कपट और सज्जन थे, कामदार और चमकीले वस्त्र पहनते थे। उनकी शुद्ध भाषा की प्रसिद्धि बहुत दूर-दूर तक फैली हुई थी। ये लोग धर्म-विषय पर बहुत वाद-विवाद करते थे। यहां बौद्धों और हिन्दुओं की संख्या भी समान थी। बौद्धों के 100 संघाराम और 10000 पुजारी

थे, हिन्दुओं के 200 मन्दिर और कई हजार पुजारी थे।

अपने साधारण नियम को छोड़कर हुएन-सांग ने कान्यकुब्ज के इतिहास का वृत्तान्त लिखा है। वह कहता है कि—"कान्यकुब्ज का पहला राजा प्रभाकर वर्द्धन था, उसके बाद उसका बड़ा पुत्र राज्यवर्द्धन राजा हुआ, परन्तु सुवर्ण (बंगाल) के राजा शशांक (नरेन्द्रगुप्त) ने उसे हराकर मार डाला। उसके मन्त्रियों ने उसके छोटे भाई हर्षवर्धन को शीलादित्य के नाम से गद्दी पर बैठाया।" हुएन-सांग इस शीलादित्य से मिला और उसने इसका बड़ा आदर-सत्कार किया। यह शीलादित्य द्वितीय था। शीलादित्य प्रथम हुएन-सांग के 60 वर्ष पूर्व हुआ था। शीलादित्य द्वितीय ने 610 से 650 तक राज्य किया। शीलादित्य द्वितीय एक बलशाली राजा था। उसने 5000 हाथियों, 2000 घुड़सवारों और 50000 पैदल सिपाहियों की सेना एकत्रित की और छः वर्षों के अन्दर उसने सारे पंजाब को अपने आधीन कर लिया। वह बौद्ध धर्मावलम्बी था। उसने अनेकों स्तूप, संघाराम, दानशालायें, चिकित्सालय बनवाये और वह हर पांचवें वर्ष बौद्धों के धार्मिक त्योहार पर एक बड़ा भारी जन-समूह एकत्रित करता था और बहुत दान देता था।

हुएन-सांग जब नालन्दा में कामरूप के राजा के साथ एक संघाराम में ठहरा हुआ था, तब शीलादित्य ने राजा से यह कहला भेजा—"मैं चाहता हूं, तुम उन विदेशी श्रमण के साथ जो कि नालन्दा के संघाराम में आपके अतिथि हैं, इस समूह में तुरन्त आओ।" हुएन-सांग कामरूप के राजा के साथ शीलादित्य के पास गया। शीलादित्य ने उससे उसके देश के विषय में बहुत-से प्रश्न पूछे और उसके दिये हुए उत्तरों से बहुत खुश हुआ। शीलादित्य ने उस समूह को एकत्रित करके लाखों मनुष्यों के साथ गंगा के दक्षिणी किनारे से और कामरूप के राजा ने गंगा के उत्तरी किनारे से यात्रा की और वे लोग 90 दिन में कान्यकुब्ज पहुचे। तब बीस देशों के राजा जिन्हें शीलादित्य ने आज्ञा दी थी, अपने-अपने देश के प्रसिद्ध श्रमणों, ब्राह्मणों, प्रबन्धकर्त्ताओं तथा सैनिकों-सहित वहां एकत्रित हुए। यह वास्तव में राजकीय धार्मिक समूह था। शीलादित्य ने गंगा के पश्चिमी की ओर एकसंघाराम और पूर्व की ओर एक 100 फीट ऊंचा बुर्ज बनवाया और उसमें मनुष्याकार की एक बुद्ध की स्वर्ण-मूर्ति स्थापित की और उस मास की अर्थात् वसन्त-ऋतु के तीन मास के पहली तिथि से 21वीं तिथि तक श्रमणों और ब्राह्मणों को समान रीति से भोजन कराता रहा। संघाराम से लेकर राजमहल तक सारा स्थान तम्बुओं और गाने वालों के खेमों से सज्जित था। बुद्ध की एक छोटी मूर्ति सजे हुए हाथी पर रखी जाती थी और शीलादित्य उस मूर्ति की बांईं ओर और कामरूप का राजा दाहिनी ओर पांच-पांच सौ युद्ध के हाथियों के साथ चलते थे। शीलादित्य चारों ओर मोती, सोना, चांदी तथा फूल फेंकता जाता था। तब मूर्ति

को स्नान कराकर स्वयं शीलादित्य उसे अपने कन्धे पर रखकर पश्चिम के बुर्ज पर ले जाता था और उसे रेशमी वस्त्र तथा रत्नजटित आभूषण पहनाता था। भोजनादि के उपरान्त विद्वानों का शास्त्रार्थ होता और फिर शाम के वक्त, राजा अपने भवन में चला जाता था। इस प्रकार नित्य-प्रति मूर्ति निकाली जाती थी। अन्त में समाप्ति के दिन बुर्ज में आग लग गई।

हुएन-सांग तो इस घटना का इस प्रकार बयान करता है कि—"शीलादित्य को बौद्ध-धर्म में रत देखकर ब्राह्मणों ने बुर्ज में आग लगा दी और उसे मारने का प्रयत्न किया।" लेकिन हुएन-सांग एक कट्टर बौद्ध था, इसलिए ब्राह्मणों पर किये गये उसके इस आरोप को मानते वक्त बहुत सावधानी से काम लेना चाहिए।

इन वृत्तान्तों से ज्ञात होता है कि उस समय भारतवर्ष एक ही सम्राट् के अधीन अनेकों राज्यों में विभाजित था। हिन्दू और बौद्ध-धर्मावलम्बी दोनों ही राजा दोनों धर्म के पण्डितों का समान रूप से सत्कार करते थे और इनमें वाद-विवाद प्रायः मित्र-भाव से होता था। उस समय बौद्ध लोग धार्मिक त्योहारों पर उत्तरकालीन हिन्दुओं की भाँति धूम-धाम से उत्सव करते थे और बौद्ध-धर्म बिगड़कर मूर्ति-पूजा में आ लगा था। बौद्ध-धर्म की उन्नति को देखकर ब्राह्मण लोग जलते थे और निरन्तर दो शताब्दियों के प्रयास के बाद उन्होंने बौद्ध-धर्म को परास्त किया।

अयोध्या के विषय में वह लिखता है कि—"अयोध्या के राज्य का घेरा 1000 मील का है और वह धन-धान्य, फल-फूलों से भरा हुआ है। यहां पर 100 संघाराम और तीन हजार अर्हत् हैं।"

हयमुख राज्य में होते हुए हुएन-सांग प्रयाग या इलाहाबाद में आया। वह लिखता है—"इस राज्य का घेरा तीन हजार मील है, यहां की पैदावार बहुत है। यहां के लोग सुशील, विद्याव्यसनी और कट्टर हिन्दू हैं। वे बौद्ध-धर्म का सत्कार नहीं करते।" अन्त में उसने इलाहाबाद के उस बड़े वृक्ष का भी वर्णन किया है, जो आज भी यात्रियों को अक्षयवट के नाम से दिखाया जाता है। वह दोनों नदियों के संगम पर मरने वाले मनुष्यों का वर्णन करता है—"दोनों नदियों के संगम पर प्रति दिन सैकड़ों मनुष्य स्नान करके मरते हैं। इस देश के लोग समझते हैं कि जो मनुष्य स्वर्ग में जाना चाहे वह एक चावल के दाने पर उपवास रखकर अपने आपको जल में डुबा दे। वहां नदी के बीच में एक बड़ा भारी स्तंभ है, जिस पर चढ़कर लोग डूबते हुए सूर्य को देखते हैं।"

कौशाम्बी जहां बहुधा बुद्ध ने उपदेश दिया था उसके विषय में हुएन-सांग लिखता है—"यह एक अब तक भरा-पूरा नगर था, इसका घेरा 1200 मील था, चावल और ऊख यहां पर बहुत पैदा होता था, यहां के लोग यद्यपि कठोर और उजड्ड कहे जाते हैं, फिर भी वे सच्चे और धार्मिक थे। श्रावस्ती अब उजड़

गई थी। इस राज्य का घेरा 1200 मील था। गौतम का जन्म-स्थान कपिल-वस्तु भी अब खंडहर हो गया था। इस देश का घेरा 800 मील था, इसमें करीब 10 उजाड़ नगर थे। राजभवन का खंडहर तीन मील के घेरे में था। यहां पर कोई राजा नहीं था, प्रत्येक नगर ने अपने-अपने सरदार नियत कर लिये थे। गौतम का मृत्यु-स्थान कुशीनगर भी इसी प्रकार उजाड़ था। इलाहाबाद और हरिद्वार की तरह बनारस भी हुएन-सांग के समय तक हिन्दुओं का एक धर्म-स्थान था। इस देश का घेरा 800 मील था। राजधानी 4 मील लम्बी और 1 मील चौड़ी थी। यहां के लोग समृद्ध विद्वान् और धार्मिक थे। यहां के 30 संघारामों के 3000 पुजारी और 100 मन्दिरों के 10,000 पुजारी थे। विशेषतः बनारस में महेश्वर की पूजा होती थी, कुछ लोग बाल कटवाकर नंगे रहकर और शरीर में भभूत लगाकर पुनर्जन्म की निवृत्ति के लिए तपस्याओं की साधना किया करते थे। बीस देव-मन्दिरों के बुर्ज और दालान नक्काशीदार पत्थर और लकड़ियों के बने थे। सब मन्दिर वृक्षों की छाया में थे। यहां एक महेश्वर की 100 फीट ऊंची एक तांबे की गंभीर और तेज-पूर्ण मूर्ति थी जो सचमुच जीवित-सी जान पड़ती थी। नगर के उत्तर पूर्व के स्तूप के सामने एक दर्पण की भाँति उज्ज्वल और चमकदार लोह-स्तंभ था। उसका धरातल बर्फ की भांति चिकना और चमकीला था। वरुण नदी से दो मील पर मृगदाय का विशाल संघाराम था, जहाँ बुद्ध ने पहले-पहल अपना धर्म प्रकाशित किया था। इसके आठ भाग थे। खंडहर बुर्ज तथा उसके आगे निकले हुए बालाखानों और गुफाओं में बहुत ही उत्तम काम था। इस बड़े घेरे के बीच में एक 200 फीट ऊंचा विहार था, जिसकी सीढ़ियां इंटों की और नींव पत्थर की थी, इसकी छत पर एक सुनहला आम का फल बना हुआ था। विहार के बीचों-बीच एक बुद्ध की मनुष्याकार मूर्ति थी जो कि धर्म के पहिये को चला रही थी। यह मूर्ति इस स्थान के लिए बहुत उपयुक्त थी, जहाँ कि उस महान् उपदेशक ने अपने धर्म के पहिये को पहले-पहल चलाया था।

अन्य स्थानों में होते हुए हुएन-सांग वैशाली में आया। इस राज्य का घेरा 1300 मील का था, पर इसकी राजधानी खंडहर हो गई थीं। यहां का जलवायु अच्छा, लोग सुशील और सच्चे हैं। संघाराम अधिकांश खंडहर हैं, उनमें बहुत कम संन्यासी हैं।

हुएन-सांग विज्जयनों का लिच्छवियों से जुदा उल्लेख करता है, परन्तु वास्तव में विज्जयन और लिच्छवी एक ही थे। बल्कि यों कहना चाहिए कि लिच्छवी लोग विज्जयनों की आठ जातियों में से एक थे।

हुएन-सग फिर नेपाल गया। पर वहां के लोगों के विषय में उसकी अच्छी सम्मति नहीं है। वह कहता है कि वहां के लोग कुरूप, क्रोधी, कठोर, झूठे और विश्वास-घातक हैं।

नेपाल से फिर यह वैशाली लौटा। और गंगा को पार करके वहां से मगध में पहुंचा जो कि उसकी पवित्र मंडली से भरा हुआ था। उसने जो 12 पुस्तकें लिखी हैं उनमें से पूरी दो पुस्तकें उन कथाओं, दृश्यों तथा पवित्र चिह्नों के विषय में हैं जिन्हें उसने मगध में पाया था।

मगध का राज्य एक हजार मील के घेरे में था। दीवारों से घिरे नगरों की वजाय कस्वों की वस्ती ज्यादा थी। यह देश उपजाऊ, नीचा और नम था, इस कारण बस्ती ऊंची भूमि पर थी। बरसात में जब सारा देश पानी से भर जाता था, तब लोग नावों द्वारा वाहर आते-जाते थे। लोग सुशील, विद्या-प्रेमी और बौद्ध थे। वहां 50 संघाराम और 10,000 अर्हत् थे। और दस देव-मन्दिर थे।

पाटलिपुत्र अब बिल्कुल उजड़ चुका था। केवल नींव ही देख पड़ती थी। हुएन-सांग ने अशोक, महेन्द्र, नागार्जुन और अश्वघोष के विषय में तथा उन स्तूपों, विहारों और स्थानों के विषय में जिनका सम्बन्ध बुद्ध के जीवन-चरित्र से है, बहुत कुछ वर्णन किया है।

वहां से वह फिर गया को गया, जहां केवल ब्राह्मणों ही के 1000 घर थे। वहाँ से वह प्रसिद्ध बोधिवृक्ष और उसके पास के विहार में गया, जो लगभग 160 या 170 फीट ऊंचा था और बहुत ही सुन्दर बेल-बूटों से भरा हुआ था। कहीं-कहीं गुंथे हुए मोतियों की मूर्तियां बनी हुई थीं और कहीं स्वर्गीय ऋषियों की मूर्तियाँ। इन सबके चारों तरफ एक तांबे का सुनहला आमलक फल था और उसके निकट ही महाबोधि संघाराम की बड़ी इमारत थी, जिसे एक लंका के राजा ने वनवाया था। उसकी छः दीवारें थीं और तीन खंड ऊंचे बुर्ज थे। यह रक्षा के लिए तीस या चालीस फीट ऊंची दीवारों से घिरा हुआ था। वह लिखता है—"इसमें शिल्पकार ने अपनी पूरी चतुराई खर्च की है। बेल-बूटे बड़े ही सुन्दर रंगों के हैं। बुद्ध की मूर्तियां सोने और चांदी की बनी हुई और रत्नजटित हैं। स्तूप ऊंचे और बड़े हैं और उनमें सुन्दर काम हैं।"

बोधिवृक्ष के निकट के स्थानों को, जब तक भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का प्रचार रहा, बौद्ध लोग पवित्र समझते थे। प्रति वर्ष चातुर्मास की समाप्ति पर सब स्थानों से हजारों-लाखों धार्मिक पुरुष यहां पर एकत्रित होकर सात रात तक वे लोग इस जिले में भ्रमण करते, धूप जलाते, पूजा करते, गाते-बजाते और फूलों की वर्षा करते थे। इससे एक नई बात का पता चलता है कि उस समय के लोग भी वैसे ही धूम-धाम, प्रसन्नता और बाह्याडम्बर से उत्सव मनाते थे, जैसे कि उत्तर-कालीन हिन्दू।

इसके बाद हुएन-सांग सम्राट् बिम्बसार और अजातशत्रु के समय की मगध की राजधानी राजगृह में आया, जो अब धीरे-धीरे खण्डहर हो रहा था और आबादी बिल्कुल कम हो गई थी। उसने वहां उस स्थान को देखा, जहां पहली सभा काश्यप

के सभापतित्व में हुई थी। काश्यप ने उस समय कहा था—"आनन्द जो निरन्तर तथागत के शब्दों को बराबर सुनता था, सूत्रपिटकों को संग्रहीत करे। और मैं (काश्यप) धर्मपिटकों को संग्रहीत करूँगा।" वर्षा-ऋतु के तीन मास व्यतीत होने पर त्रिपिटक का संग्रह समाप्त हो गया।

फिर हुएनत्संग नालन्दा के महाविद्यालय में आया, जहाँ कई हजार संन्यासी विद्याध्ययन करते थे। उनके विषय में वह लिखता है—"वे लोग बड़े ही योग्य और बुद्धिमान मनुष्य थे। भारतवर्ष के सब देश उनका सत्कार करते और उनके आदेशानुसार चलते हैं। गूढ़ विषयों पर प्रश्नोत्तर करने के दिन काफी नहीं हैं, अतः प्रातःकाल से लेकर रात्रि तक वे लोग शास्त्रार्थ में लगे रहते हैं। वृद्ध और युवा परस्पर एक-दूसरे को सहायता देते हैं। जो लोग त्रिपिटक के प्रश्नों पर शास्त्रार्थ नहीं कर सकते, उनका सत्कार नहीं होता और लज्जा के मारे अपना मुंह छिपाने को विवश होते हैं। इसलिए भिन्न-भिन्न देशों से विद्वानों के झुण्ड-के-झुण्ड अपनी शंका-समाधान के लिए यहाँ आते हैं और, जो शीघ्रता से शास्त्रार्थ में प्रसिद्धि पाना चाहते हैं। बहुत-से मनुष्य अपने-आपको झूठ-मूठ नालन्दा के विद्यार्थी बताकर इधर-उधर जाकर प्रसिद्धि पाते हैं।"

डॉ० फर्ग्यूसन साहब का यह कथन ठीक है कि जिस प्रकार मध्यमकाल में फ्रांस के लिए क्लनी और क्लेखों थे, वैसे ही मध्यकाल में भारत में सच्ची विद्या का केन्द्र नालन्दा था। वहीं से अन्य देशों में विद्या का प्रचार होता था। दोनों धर्मों की सब बातों में जैसी अद्भुत समानता है, वैसे ही दोनों धर्मों की सब रीतियों के आविष्कार और व्यवहार में बौद्ध लोग ईसाइयों से पाँच शताब्दी पहले रहे।

नालन्दा का बड़ा विहार जहाँ पर कि विश्वविद्यालय था, उसी के योग्य था। शक्रादित्य, बुद्धगुप्त, तथागत गुप्त और बालादित्य इन चार महान् राजाओं ने मिलकर इस विश्व-विख्यात विशाल इमारत को बनवाया था। इस इमारत के बन जाने पर इसमें एक बड़ी भारी सभा हुई, जिसमें दो-दो हजार मील की दूरी से हजारों आदमी एकत्रित हुए थे। इसके बाद कई राजाओं ने इसके आस-पास कई विहार बनवाये, जिनमें बालादित्य का बनवाया हुआ विहार सबसे सुन्दर था। वह तीन सौ फीट ऊँचा था और सुन्दरता, बड़ाई और बुद्ध की स्थापित मूर्ति में वह बोधि वृक्ष के नीचे के बड़े विहार की समानता रखता था।"

मगध से हुएनत्संग हिरण्य पर्वत के राज्य में आया, जिसे जनरल कनिंघम ने मुंगेर निश्चित किया है। इस राज्य का घेरा 600 मील और वहाँ की जमीन बहुत उपजाऊ थी। राजधानी के निकट मुंगेर के गर्म सोते थे, जिनमें से बहुत-सा धुआँ और भाप निकलती थी। चम्पा जो अंग के पूर्वी-विहार की राजधानी थी, आजकल के भागलपुर के निकट थी। इस राज्य का घेरा 800 मील और भूमि समतल तथा

उपजाऊ थी। राजधानी की दीवारें दस फीट ऊँची और एक ऊँचे चबूतरे पर थीं।

अन्य कई स्थानों में होता हुआ हुएनत्संग पुन्द्रवा पुन्द्रवर्धन में आया, जो आजकल का उत्तरी बंगाल है। यह राज्य 800 मील के घेरे में था, उसमें घनी बस्ती थी। बस्ती के बीच-बीच में बाग, बगीचे, लता गुल्म, तालाब आदि थे। भूमि चौरस और उपजाऊ थी। यहाँ 20 संघाराम और 300 पुजारी थे, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के लगभग 100 देव-मन्दिर थे। यहाँ नंगे निर्ग्रन्थ लोग सबसे अधिक थे।

पूर्व की ओर ब्रह्मपुत्र नदी के उस पार कामरूप का प्रबल राज्य था, जिसका घेरा 1000 मील था। इस राज्य में आधुनिक आसाम, मनीपुर, कचार, मैमनसिंह और सिलहट सब सम्मिलित हैं। यहाँ की भूमि उपजाऊ थी। नारियल और दूसरे फल बहुतायत से होते थे। नदियों या बाँध का जल कस्बों के चारों ओर बहता था। यहाँ की जलवायु कोमल और लोग ईमानदार थे। वे कुछ नाटे और पीले रंग के होते थे, पर वे क्रोधी होते थे। उनकी भाषा मध्य भारतवासियों से भिन्न थी। उन लोगों की स्मरण-शक्ति तेज थी और वे लोग पढ़ने में दत्तचित थे। वे लोग बौद्ध-धर्म को नहीं मानते थे, वे देवों की पूजा करते थे। यहाँ लगभग 100 देव मन्दिर थे, वहाँ एक भी बौद्ध-संघाराम नहीं था। राजा यहाँ का ब्राह्मण था और उसका नाम भास्कर वर्म्मन था और उसे कुमार की पदवी प्राप्त थी। इसी राजा ने ही कन्नौज के प्रतापी महाराजा शीलादित्य से हुएनत्संग का परिचय कराया था।

कामरूप के दक्षिण में समतल या पूर्वी-बंगाल था। इस राज्य का घेरा 600 मील था। यहाँ की राजधानी 4 मील के घेरे में थी। यहाँ के लोग नाटे, काले, बलिष्ठ, विद्यानुरागी थे। ये बातें पूर्वी-बंगाल के लोगों में आज तक पाई जाती हैं। यहाँ 30 संघाराम और दो हजार संन्यासी थे। मन्दिर लगभग 100 थे, नंगे निर्ग्रन्थ असंख्य थे।

इसके बाद हुएनत्संग ताम्रलिप्त देश (तुमुलुक देश) में गया जिसे कि आजकल दक्षिण पश्चिमी बंगाल कहते हैं और जिसमें आधुनिक मिदनापुर भी सम्मिलित है। यह राज्य 300 मील के घेरे में था। इसकी राजधानी एक बन्दरगाह था। यहाँ के लोग बलिष्ठ, फुर्तीले, शूरवीर और साथ-ही जल्दबाज थे। यहाँ समुद्र कुछ देश के भीतर घुस आया था। यहाँ हीरे, मोती, रत्न आदि अमूल्य वस्तुएँ एकत्रित होती थीं। यहाँ 10 संघाराम और 50 देवमन्दिर थे।

इसके बाद हुएनत्संग 'कर्ण सुवर्ण' का वर्णन करता है जोकि आजकल पश्चिमी-बंगाल और मुर्शिदाबाद समझा जाता है। इसी देश के राजा शशांक ने कन्नौज के राजा शीलादित्य के बड़े भाई को हराया और मार डाला था। इस राज्य का घेरा 300 मील था। यहाँ के लोग सुशील, समृद्ध और विद्या-प्रेमी थे। यहाँ 10 संघाराम और 60 देवमन्दिर थे।

इन वृत्तान्तों से पाठकों को भली-भाँति ज्ञान हो गया होगा कि उस समय खास बंगाल (बिहार और उड़ीसा को छोड़कर) पाँच बड़े-बड़े राज्यों में विभाजित था। 1. उत्तरी बंगाल में 'पुन्द्र-राज्य', 2. आसाम और उत्तर पश्चिम बंगाल में 'कामरूप-राज्य', 3. पूर्वी बंगाल में 'समतल-राज्य', 4. दक्षिण-पश्चिम बंगाल में 'ताम्रलिपि-राज्य' और 5. पश्चिमी बंगाल में 'कर्णसुवर्ण राज्य' था। हुएनत्संग का उत्तरी भारतवर्ष का वृत्तान्त बंगाल के साथ समाप्त होता है।

अब आगे हुएनत्संग दक्षिणी भारतवर्ष का वर्णन करता है—उद्रवा अर्थात् ओड़ीसा का राज्य 1400 मील के घेरे में है। उसकी राजधानी आधुनिक जयपुर (ओड़ीसा) के पास पाँच मील के घेरे में थी। वहाँ की जमीन बड़ी ही उपजाऊ थी। उसमें सब प्रकार के अन्न, फल और फूल और बहुत से अद्भुत वृक्ष पैदा होते थे। परन्तु यहाँ के मनुष्य असभ्य थे। उनका रंग पीलापन लिये हुए काला था। यहाँ की भाषा मध्य भारत से भिन्न थी। पर ये लोग बड़े विद्या-प्रेमी थे। जब बौद्ध-धर्म भारतवर्ष के अन्य स्थानों से उजड़ गया था तब यही देश उसकी रक्षा का स्थान था। यहाँ लगभग 100 संघाराम और 10,000 संन्यासी थे। यहाँ देव-मन्दिर सिर्फ 40 थे। ओड़ीसा पहले ही तीर्थ-स्थान हो गया था। यद्यपि वहाँ उस समय तक पुरी का मन्दिर नहीं बना था। इस देश की दक्षिण-पश्चिम सीमा पर स्थित एक बड़े पर्वत पर 'पुष्पगिरि' नामक एक विशाल संघाराम था। कहते हैं कि इस संघाराम के पत्थर के स्तूप में एक अद्भुत प्रकाश मिलता था। दूर-दूर के यात्री यहाँ आ-आकर सुन्दर कार्चोबी के छाते भेंट करते थे। वे गुम्बज के सिरे पर गुलदान के नीचे रखे जाते थे और वे पत्थर में सुइयों की तरह खड़े रहते थे। इस तरह झंडा गाड़ने की रीति आज तक जगन्नाथ में प्रचलित है। दक्षिण-पश्चिम की ओर एक चरित्र नाम का बड़ा भारी बन्दरगाह था। यहाँ के व्यापारी बड़े दूर-दूर के देशों की यात्रा करते थे। विदेशी लोग यहाँ पर आते-जाते और ठहरते थे। नगर की दीवार दृढ़ और ऊँची थी। यहाँ हर प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएँ मिलती थीं।

ओड़ीसा के दक्षिण-पश्चिम में चिल्का झील के तट पर कान्योध का राज्य था। यहाँ के निवासी शूरवीर, सच्चे और उद्योगी थे, पर वे काले और मैले थे। लिखने में मध्य भारतवर्ष के अक्षर काम में लाते थे, पर इनका उच्चारण बिल्कुल भिन्न था। यहाँ के निवासी हिन्दू थे, यहाँ बौद्ध-धर्म का अधिक प्रचार नहीं था। यह जाति बड़ी ही प्रबल थी। अपने भुजबल से वह आसपास के प्रान्तों पर शासन करती थी। समुद्र-तट पर रहने के कारण लोगों को बहुत-सी कीमती वस्तुएँ मिल जाती थीं। लेन-देन में ये लोग मोती और कौड़ियों को काम में लाते थे। बोझ को खींचने के लिए यह लोग हाथियों को काम में लाते थे।

इस राज्य के उत्तर-पश्चिम में एक बड़े जंगल के पार कलिंग का प्राचीन राज्य

था। इस राज्य का घेरा 100 मील था, इसकी राजधानी 5 मील के घेरे में थी। यहाँ बहुत-से घने जंगल थे, जिनमें जंगली हाथी रहते थे। यहाँ के लोग यद्यपि जोशीले, उजड्डी और असभ्य थे, पर वे अपनी बात के पक्के और विश्वासपात्र थे। यद्यपि हुएनत्संग के समय में कलिंग की ऐसी दुरवस्था हो गई थी, परन्तु पाठकों को स्मरण होगा कि मेगास्थनीज के समय में कलिंग का राज्य एक प्रबल महा-साम्राज्य था। कलिंग का राज्य बंगाल से लेकर गोदावरी के मुहाने तक समस्त समुद्र-तट तक फैला हुआ था। उसकी प्रबलता का स्मरण अब तक बना हुआ था। हुएनत्संग कहता है—

"प्राचीन काल में कलिंग राज्य की वस्ती बहुत घनी थी। लोगों के कन्धे एक-दूसरे से रगड़ खाते थे। रथ के पहिये की धुरी एक-दूसरे रथ की धुरी से टकराती थी।" यद्यपि अब कलिंग का प्रभुत्व नहीं रहा था, फिर भी यहाँ की जातियों में एक प्रकार की राजकीय एकता थी।

कलिंग के उत्तर-पश्चिम जंगलों और पहाड़ियों में होकर कोशल का मार्ग था, जो आधुनिक बरार का देश है। इस देश का घेरा 1000 मील और इसकी राजधानी का घेरा 8 मील था। यहाँ बस्ती बहुत घनी थी। यहाँ के लोग जोशीले, बहादुर, लम्बे, काले, कट्टर और सच्चे थे। उनमें से कुछ लोग हिन्दू और कुछ लोग बौद्ध थे। इन दक्षिणी कोशलों के सम्बन्ध में जिन्हें अवध के कोशलों से भिन्न समझना चाहिए, हुएनत्संग प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थकार नागार्जुन और राजा सद्वह का वर्णन करता है, जिसने एक चट्टान को कटवाकर उसमें संघाराम बनवाया था। फाहियान और हुएनत्संग दोनों ने स्वयं इस मठ को नहीं देखा, पर दोनों ने इसका वर्णन किया है। वे लिखते हैं—"इस चट्टान में एक गड्ढा करवाया और उसमें एक संघाराम बनवाया। लगभग दो मील की दूरी पर उन्होंने सुरंग खुदवाकर एक ढका हुआ मार्ग खोला। इस प्रकार इस चट्टान के बीच खड़े रहने से बिल्कुल कटी हुई चट्टानों और लम्बे बरामदों के बीच, जिनमें नीचे चलने के लिए गुफाएँ और ऊपर चढ़ने के लिए गुंबज बने हैं, खण्डदार इमारत को देख सकते हैं, जो कि पाँच खण्ड ऊँची है। प्रत्येक खण्ड में चार दालान तथा घिरे हुए विहार हैं। एक दफा इस संघाराम के पुजारी परस्पर लड़ पड़े और इसके निबटारे के लिए राजा के पास पहुँचे। ब्राह्मणों ने इसे अच्छा अवसर देखकर संघाराम को बरबाद कर दिया और उस स्थान की गठबन्दी कर दी।"

फिर हुएनत्संग आंध्रों के प्राचीन देश में आया, जिन्होंने ईसा के कई शताब्दियों पहले दक्षिण भारत में अपने राज्य और सभ्यता की उन्नति की थी और मगध तथा समस्त भारत पर शासन किया था। सातवीं शताब्दी में उसकी प्रधानता उज्जयनों और गुप्तों के हाथ चली गई थी। अब इनका राज्य केवल 600 मील के घेरे में था, जहाँ 20 संघाराम और 20 मन्दिर थे।

इस देश के दक्षिण में 'धनकंटक' अर्थात् आंध्रों का बड़ा देश था, जिसका घेरा 1200 मील का था। इसकी राजधानी 8 मील के घेरे में थी, जिसे कि आजकल विजयवाड़ा कहते हैं। भूमि उपजाऊ और फसल बहुत थी, परन्तु इस देश का बहुत-सा भाग बियावान था, बस्तियाँ बहुत कम थीं, जंगल-के-जंगल सुनसान और उजाड़ पड़े थे। यहाँ के लोग पीलापन लिये हुए काले थे। वे कट्टर, जोशीले और विद्या-प्रेमी थे। सैकड़ों प्राचीन मठ उजाड़ और खण्डहर हो गये थे। केवल 90 मठों में संन्यासी रहते थे। यहां पर 100 मन्दिर थे और उनके बहुत-से पूजने वाले थे। हुएनत्संग लिखता है—"नागर के पूर्व और पश्चिम की ओर दो विशाल मठ हैं, जो पूर्व शिला और अपर शिला के नाम से विख्यात हैं। इन मठों को किसी राजा ने बुद्ध के सम्मानार्थ बनवाया था। उसने विशाल घाटी में गड्ढा खुदवाया, सड़कें बनवायीं और पहाड़ी मार्ग खुलवाये थे।"

डॉ० फर्ग्यूसन सन् 1796 में अमरावती में निकले हुए स्तूप के विषय में कहते हैं—कि यही वह पश्चिमी मठ है। डॉ० वर्जेस मठ के पत्थरों पर खुदे हुए लेखों के आधार पर इस स्तूप को दूसरी शताब्दी का निश्चित करते हैं।

बड़े आन्ध्र देश के दक्षिण-पश्चिम में एक चीला का राज्य था जो कि 500 मील के घेरे में था। यहाँ बस्ती थोड़ी थी, जंगल और उजाड़ होने के कारण डाकू यहाँ खूब लूट मचाते थे। यहाँ के निवासी दुराचारी और निर्दयी थे।

इसके दक्षिण में द्राविड़ों का राज्य था। इसका घेरा 1200 मील का था। इसकी राजधानी विशाल 'कान्चीपुर' थी। जो आज कान्चीपुरम के नाम से पुकारी जाती है। यहाँ पर 100 संघाराम और 10,000 पुजारी थे।

द्राविड़ राज्य के दक्षिण में मलयकूट का राज्य था, जिसे डॉ० वर्नेल ने कावेरी नदी के डेल्टा से मिलाया है। यहाँ के लोग काले, वीर, जोशीले, विद्याव्यसनी और व्यापार कुशल थे। इस देश के दक्षिण में मलय पर्वत के दक्षिणी भाग थे, जहाँ कपूर और चन्दन होता था। इस पर्वत-श्रेणी के पूर्व में पोटलक पर्वत था, जहां बुद्ध महात्मा अवलोकितेश्वर ने, जिनकी पूजा चीन, जापान और तिब्बत में उत्तरी बौद्ध करते हैं—कुछ समय तक निवास किया था।

हुएनत्संग यद्यपि लंका में नहीं गया, परन्तु उसने वहाँ का सब वृत्तान्त लिखा है। उसने महेन्द्र के विषय में और अन्य कई वृत्तान्त और दन्तकथाएं लिखी हैं। वह लिखता है—

"लंका में 100 मठ और 20,000 पुजारी थे। वहाँ पर रत्न और मोती अधिक पाये जाते हैं।"

द्राविड़ से उत्तर की ओर यात्रा करता हुआ हुएनत्संग कोंकन में आया, जो 10,000 मील के घेरे में था। यहाँ के लोग यद्यपि काले, क्रोधी और जंगली थे, पर वे विद्या का सम्मान करते थे।

कोंकन के उत्तर-पश्चिम एक भयानक जंगल के पार 1000 मील के घेरे में महाराष्ट्र का बड़ा देश था। यहाँ के लोग बड़े वीर, सच्चे, पर कठोर और बदला लेने वाले थे। वे उपकृत होकर गुलाम और अपमानित होकर जान के ग्राहक हो जाते थे। निर्बल की सहायता में वे अपनी जान तक लड़ा देते थे। अपने शत्रु को वह पहले ही सूचना दे देते और फिर दोनों शस्त्रों से सुसज्जित होकर लड़ते थे। अगर कोई सेनापति युद्ध में हार जाये तो उसे वे दण्ड न देकर स्त्रियों का कपड़ा देकर निकाल देते हैं, जिससे वह स्वयं अपनी मृत्यु का उपाय करे। इनका राजा क्षत्रिय है, उसका नाम पुलकेशी था। उन दिनों पुलकेशी की कार्य-कुशलता और न्याय-शीलता की धाक चौतरफ थी। हुएनत्संग के समय में यद्यपि महाराज शीलादित्य (द्वितीय) ने पूर्व से लेकर पश्चिम तक की जातियों को विजित किया था, पर एक इसी जाति ने उनकी आधीनता स्वीकार न की। शीलादित्य ने सब दिशाओं से उत्तम-उत्तम सैनिकों को एकत्रित करके एक प्रबल सेना बनाई और इस वीर जाति को अपने आधीन करने के लिए उस पर आक्रमण किया। पर यह जाति उसके आधीन नहीं हुई। इस युद्ध में पुलकेशी ने शीलादित्य को हराया और मानी मरहठों की स्वतन्त्रता को कायम रखा। उसी प्रकार हजार वर्ष उपरान्त पुलकेशी के एक उत्तराधिकारी ने उत्तरी-भारत के सम्राट् औरंगजेब का सामना किया। और मरहठों की खोई हुई स्वतन्त्रता और प्रबलता को पुनरुज्जीवित किया। जब मुगलों और राजपूतों का पतन हो गया, तब भी ये ही मरहठे अंग्रेजों से लड़े थे।

महाराष्ट्र देश की पूर्वी सीमा पर एक बड़े भारी पर्वत पर बने हुए विशाल संघाराम का वर्णन करते हुए हुएनत्संग ने लिखा है—"यह संघाराम एक अन्धकारमय घाटी में बना हुआ है, इसके कमरे और दालान चट्टानों के सामने फैले हुए हैं, प्रत्येक चट्टान के पीछे चट्टान और आगे घाटी है।" ये प्रसिद्ध अजंता की गुफायें हैं। वह फिर लिखता है—"इसके अतिरिक्त यहाँ एक सौ फीट ऊँचा विहार है, उसके बीच में पत्थर की 70 फीट ऊँची एक बुद्ध की मूर्ति है। इसके ऊपर सात मंजिल का एक पत्थर का चँदोवा था, जो देखने में निराधार दिखता था।"

महाराष्ट्र के पश्चिम में या उत्तर-पश्चिम में एक भरुकच्छ का देश था। इसका घेरा 50 मील का था। यहाँ की भूमि ऊसर थी, अतः समुद्री मार्ग से ही यहाँ अन्न पहुँचता था।

फिर हुएनत्संग ने मालवे के प्राचीन देश का वृत्तान्त लिखा है—"यह देश विद्या के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ के ऐतिहासिक ग्रंथों में लिखा हुआ है कि मेरे (हुएनत्संग के) 60 वर्ष पहले यहाँ का राजा शीलादित्य था। यह प्रथम शीलादित्य था, जिसने 550 ई० से 600 ई० तक राज्य किया। यह सम्भवतः प्रतापी

विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी था ।"

जिस शीलादित्य को हुएनत्संग ने कन्नौज में देखा था, वह शीलादित्य द्वितीय था । इसने 610 से 650 ई० तक राज्य किया ।

हुएनत्संग के समय मालवे में सौ संघाराम और सौ ही मन्दिर थे । तब हुएनत्संग अटाली और कच्छ होता हुआ वल्लभी में आया, जहाँ एक सौ से भी ज्यादा करोड़पति थे । फिर वह सौराष्ट्र, गुजरात, सिन्ध और मुलतान में गया और वहाँ से फिर उसने अपने देश को प्रस्थान किया ।

अब हम हुएनत्संग की डायरी के कुछ अंशों को यहाँ पर देंगे, जिनसे कि तत्कालीन राज्य प्रणाली और लोगों के आचार-व्यवहार पर अच्छा प्रकाश पड़ता है—

"देश की राज्य-प्रणाली उपकारी सिद्धांतों पर निर्भर होने के कारण शासन-रीति सरल है । राज्य की आय चार मुख्य भागों में बँटी हुई है । एक भाग राज्य का प्रबन्ध चलाने और यज्ञादि के लिए है । दूसरा भाग मन्त्री, प्रधान और अन्य राज्य-कर्मचारियों की आर्थिक सहायता के लिए है । तीसरा भाग बड़े-बड़े योग्य मनुष्यों के पुरस्कार के लिए है, और चौथा भाग धार्मिक पुरुषों को दान करने के लिए है । राज्य-कर बिल्कुल हल्के हैं । अधिकांश लोग भूमि जोतते-बोते हैं, उन्हें उपज का छठा भाग कर की भाँति देना पड़ता है । व्यापारी लोग बड़ी दूर-दूर से वाणिज्य के लिए आते-जाते हैं । नदी-मार्ग तथा सड़कें बहुत थोड़ी चुंगी-कर खुले हैं । जब कभी राज-कार्य के लिए मनुष्यों की जरूरत पड़ती है, तो उनसे काम लिया जाता है, पर उनको पूरी मजदूरी दी जाती है ।"

"सैनिक लोग सीमा-प्रदेश की रक्षा करते हैं और वे उपद्रवी लोगों को दण्ड देने के लिए भेजे जाते हैं । वे लोग रात्रि के वक्त घोड़ों पर सवार होकर राज-महल के चौतरफ पहरा भी देते हैं । सैनिक लोग कार्य की आवश्यकतानुसार रखे जाते हैं । उन्हें कुछ द्रव्य देने की प्रतिज्ञा की जाती है और प्रकट रूप से उनका नाम लिखा जाता है । शासकों, मन्त्रियों, दण्डनायकों तथा कर्मचारियों को निर्वाह के लिए भूमि दी जाती है ।"

ऊपर के वृत्तान्त से विदित होता है कि भारतवर्ष की प्राचीन रीति के अनुसार सब कर्मचारियों को उनकी सेवा के लिए भूमि दी जाती थी । हुएनत्संग ने जो राजा की निजी सम्पत्ति लिखी है उससे उसका तात्पर्य सब राज्य से है । पर ऐसे गाँव या भूमि को जोड़कर जो किसी मनुष्य या मठ को सदा के लिए दे दी गई हो, अथवा जो राज कर्मचारियों के लिए नियत हो । शान्ति और युद्ध में राज्य का तथा राजा के घर का व्यय राजा की सम्पत्ति तथा कर की आय से किया जाता था ।

लोगों के चाल व्यवहार के विषय में हुएनत्संग उनके सीधेपन तथा सचाई की

आदरणीय साक्षी देता है। वह लिखता है—

"वे लोग स्वभावतः गम्भीर, सच्चे और आदरणीय हैं। हर किस्म के व्यवहार में वे निष्कपट और न्याय करने में गम्भीर हैं, वे लोग दूसरे जन्म में प्रतिफल पाने से डरते हैं और इस संसार की वस्तुओं को तुच्छ समझते हैं। वे धोखेबाज अथवा कपटी नहीं हैं और अपनी शपथ अथवा प्रतिज्ञा के सच्चे हैं।"

यही सच्ची सम्पत्ति मेगस्थनीज के समय से लेकर अब तक के विचारवान् यात्रियों की रही है, जिन्होंने हिन्दुओं को उनके घरों और गाँवों में देखा है और जो उनके नित्य कर्मों और प्रति-दिन के व्यवहारों में सम्मिलित हुए हैं। उन आधुनिक अँग्रेजों में, जो भारतवर्ष के लोगों में हिल-मिलकर रहे हैं, ऐसे ही एक निरीक्षक कर्नल स्लीमेन साहब कहते हैं। कर्नल साहब कहते हैं—"गाँव में रहने वाले स्वभावतः अपनी पंचायतों में दृढ़ता से सत्य का साथ देते हैं। मेरे सामने सैंकड़ों ऐसे अभियोग हुए हैं—जिनमें मनुष्य की स्वाधीनता, सम्पत्ति और प्राण उसके झूठ बोल देने पर निर्भर रहे हैं, परन्तु उसने झूठ बोलना स्वीकार नहीं किया।"

14

बुद्ध गया

भारतवर्ष में गया का बौद्ध-मन्दिर बौद्ध-धर्म का एक सबसे बड़ा स्मृति-चिन्ह है । हिन्दुस्तान में यों तो बौद्धों के चार मुख्य तीर्थ स्थान हैं—(1) कपिलवस्तु—जहाँ बुद्ध का जन्म हुआ, (2) बुद्ध गया—जहाँ बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त हुआ था, (3) श्रावस्ती—जहाँ बुद्ध ने सबसे पहले अपने धर्म का प्रचार किया था, (4) कुसीनगर— जहाँ बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया था ।

इन चारों में बुद्ध-गया का सबसे भारी महत्व है । कहा जाता है कि बुद्ध ने अपने निर्वाण के समय अपने समस्त अनुयाइयों को यह आदेश दिया कि वह इस स्थान के दर्शन करते रहें ।

इम मन्दिर का निर्माण वुद्ध के 236 वर्ष बाद सम्राट् अशोक ने किया था । और मन्दिर को सुरक्षित रखने के लिए उसके चारों ओर एक मजबूत पत्थर की चवेदिका बनवा दी थी, जिसके खण्डहर अब भी देखने को मिलते हैं ।

बहुत काल तक तो यह मन्दिर मगध के राजाओं की आधीनता में रहा । जब मुसलमानों की शक्ति बढ़ी और उन्होंने भारतवर्ष पर आक्रमण किया और विहार उनके दखल में आ गया, तव 1200 ई० में बख्तियार खिलजी ने इस मन्दिर को विध्वंस करा दिया । इसके बाद बहुत काल तक यह स्थान खण्डहर के रूप में पड़ा रहा । अशोक ने जहाँ पर यह मन्दिर बनवाया, वहाँ एक महान् ग्राम था, जो कि टकर राज्य की अमलदारी में था ।

बख्तियार खिलजी के आक्रमण के बाद यद्यपि वह स्थान उजाड़ हो गया, था, परन्तु बौद्ध लोग तो बार-बार इसके दर्शन के लिए आते ही रहते थे । फाहियान सन जैसे प्रमुख यात्रियों ने भी इसके दर्शन किये थे ।

सन् 1727 में महमूदशाह ने इस मन्दिर के तत्कालीन महन्त को दो गाँव इनायत किये, जो कि मन्दिर के नजदीक थे । और एक सनद भी लिख दी थी ।

19 वीं शताब्दी के अन्त में बर्मा के राजा मिनडूनमिन ने वहुत से रुपये खर्च करके मन्दिर की मरम्मत करवाई और उसको अपने अधिकार में ले लिया । भूत-

पूर्व महन्त ने अपने अधिकार उन्हें दे दिये और फिर से वहाँ बुद्ध पुजारी रहने लगे। लेकिन पीछे जब भारत-सरकार और बर्मा के राजा में लड़ाई हुई और थीबा पकड़ा गया तथा बर्मा-सरकार के कब्ज में आ गया, तब बौद्ध-मन्दिर पर भी सरकार ने कब्जा कर लिया। इसके बाद बराबर यह कोशिश की जाती रही कि इस मन्दिर की मरम्मत कराई जाये। ग्रियर्सन साहब गया के मजिस्ट्रेट ने भी सरकार को मरम्मत के लिए लिखा था।

जब बर्मा के राजा ने बौद्ध-मन्दिर की मरम्मत शुरू कराई तो प्राचीन बोधि-वृक्ष के नीचे की मिट्टी हटाने से वह गिर गया। उस समय कनिंघम साहब ने वहाँ दो पीपल के पेड़ लगा दिये। आज बौद्ध लोग उसी पीपल की पूजा करते हैं।

जब बर्मा के राजा ने मंदिर की मरम्मत की आज्ञा ली थी, तब शर्त यह थी कि कोई नया काम शुरू न किया जाय, सिर्फ मरम्मत ही की जाय। सन् 1877 में बाबू राजेन्द्रपाल ने बर्मी कारीगरों का काम देखने के लिए बौद्ध-गया की यात्रा की और उनकी रिपोर्ट पर एप्रिल मास में काम बन्द कर दिया गया।

उसी साल फिर जब बर्मा के राजा अंग्रेज अफसरों की अध्यक्षता में मरम्मत का काम कराने को सहमत हो गये तो मि० सी०ए० मिल्स की अध्यक्षता में काम शुरू हुआ। सन् 1879 में मि० वर्गलर ने सरकार को बर्मा कारीगरों की लापरवाही की शिकायत की तो सरकार ने मरम्मत का काम अपने हाथों में ले लिया और उसकी मरम्मत पूरी हो गई। इस प्रकार मरम्मत में दो लाख रुपया खर्च हुआ। मरम्मत हो जाने के बाद ग्रियर्सन साहब ने सरकार से यह पूछा कि यह मन्दिर पी० डब्ल्यू० डी० के अधिकार में कब आयेगा? सरकार ने उनको जवाब दिया कि 1 अप्रैल सन् 1881 ई० को पी० डब्ल्यू० डी० के अधिकार में ले लिया जायेगा। ठीक समय पर सरकार ने मन्दिर को पी० डब्ल्यू० डी० के अधिकार में दे दिया और तब से यह पी० डब्ल्यू० डी० के अधिकार में है, और बराबर मरम्मत होती रहती है।

इसके बाद जब अनागरिक धर्मपाल ने इस मन्दिर की यात्रा की तो उनके मन में धार्मिक विचार पैदा हुए, और उनका यह विचार हुआ कि इस मन्दिर पर बौद्धों का अधिकार होना चाहिए। उन्होंने कोलम्बो में महाबोधि-सोसाइटी स्थापित की और बहुत-सी लिखा-पढ़ी के बाद सरकार ने महाबोधि-सोसाइटी के मन्त्री को विश्रामागार के दो कमरों की तालियाँ दे दीं और फिर वहाँ बौद्ध-भिक्षु रहने लगे और पूजा-अर्चना करने लगे। महन्तजी में और अनागरिक धर्मपाल में मेल हो गया। एक चांडाल कन्या मन्दिर के सहन को साफ किया करती थी। बौद्ध-भिक्षु रात-दिन मन्दिर में रहते थे और आराधना करते थे। इसके बाद एक बड़ी भारी सभा पटना में हुई और इस बात की कोशिश की गई कि इस मन्दिर को सर्वथा बौद्धों के आधीन कर लिया जाय। थोड़े ही दिनों में बूढ़े महन्तजी मर

गये और नवीन महन्त गद्दी पर बैठे तो उनसे बौद्धों की अनबन हो गई ।

इसके बाद जापान में एक 700 वर्ष पुरानी मूर्ति अनागरिक धर्मपाल को मिली । जिसकी स्थापना उन्होंने मन्दिर की दूसरी मंजिल पर करने का विचार किया । लेकिन अनागरिक धर्मपाल का यह इरादा जब महन्त जी को मालूम हुआ तो वह बड़े क्रोधित हुए और उनमें झगड़ा हुआ । परिणाम यह हुआ कि मुकदमा फौजदारी हो गया और उसमें महन्तजी के तीन चेलों को एक-एक महीने की सजा और 100-100 रुपये जुर्माने का हुक्म हुआ । हाईकोर्ट में अपील दायर हुई तो यद्यपि अपराधियों की सजा रद्द हो गई परन्तु यह स्पष्ट रहा कि यह मन्दिर बौद्धों का है और इस पर बौद्धों ही का अधिकार रहना चाहिए ।

थोड़े दिनों बाद जापान से मि० ओकाकोरा हिन्दुस्तान आये और उन्होंने मन्दिर के आस-पास जमीन खरीद कर जापानी विश्रामागार बनाने की चेष्टा की । उन्होंने बौद्ध-गया में स्वामी श्रद्धानन्द और सविता देवी से बात की और वहाँ एक "जापानी हिन्दू-संघ" खोलने का विचार किया । सरकार को यह बात मालूम हुई और उसने जाना कि इसमें एक महान् राजनैतिक षड्यन्त्र है तो उसने बौद्धों को वहाँ से निकालने का हुक्म दे दिया ।

लार्ड कर्जन वायसराय थे, उन्होंने एक कमीशन नियत किया, जिसके सदस्य जस्टिस सुरेन्द्र नाथ और हरप्रसाद शास्त्री थे । शास्त्री जी ने बौद्धों के पक्ष में और मि० जस्टिस ने विपक्ष में मत दिये । रिपोर्ट पर सरकार ने बौद्धों को निकलने का हुक्म दे दिया । ओकाकोरा का विचार ज्यों-का-त्यों रह गया ।

इसके बाद महन्त ने मन्दिर पर दीवानी मुकदमा दायर किया और उन दोनों विश्रामागार के कमरों पर से भी बौद्धों का अधिकार हट गया और सारे मन्दिर पर महन्त का अधिकार हो गया ।

इस वक्त मन्दिर पर महन्त ही का अधिकार है, और इसमें कोई शक नहीं कि उनकी पूजा-विधि बौद्धों की पूजा-विधि से भिन्न है । बौद्धों को वहाँ पूजा करने से रोका जाता है ।

यद्यपि साम्प्रदायिकता का जमाना नहीं है फिर भी यह वास्तविक बात है कि वह मन्दिर बौद्धों का है, अतः उस पर बौद्धों ही का अधिकार होना चाहिए । वहाँ प्रति वर्ष सैकड़ों बकरे काटे जाते हैं और चिड़ियों का शिकार किया जाता है ।

सन् 1952 तक गया का बौद्ध-मंदिर महंत जी पास रहा । उसके पश्चात् यह मंदिर पूरी तरह बौद्धों के अधिकार में है । (स०)

15

नालन्दा विश्वविद्यालय

उदय, अस्त और पुनर्दर्शन

गुप्तकाल भारतवर्ष का स्वर्ण-युग कहा जाता है। नालन्दा विश्वविद्यालय का पूर्ण विकास उसी युग में हुआ था। तब से लगातार सात सौ वर्ष तक क्रमशः गुप्त, बर्धन और पालवंशी के राजाओं के संरक्षण में यह विश्वविद्यालय ज्ञान का केन्द्र बना रहा। यहीं से ज्ञान की वह ललकार उठी थी—वह 'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः' की उत्साहवर्धक पुकार।

इस विश्वविद्यालय के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप का अनुमान हम इसी बात से कर सकते हैं कि चीन, तिब्बत, तुर्किस्तान, सिंहल आदि सुदूर देशों के विद्यार्थी ज्ञानार्जन करने के लिए यहाँ आते थे। इसके इतिहास में भारतवर्ष का लगभग सात सौ वर्षों का इतिहास छिपा हुआ है। आज भी संसार के बिरले ही विश्वविद्यालय इतने दीर्घकालीन जीवन का दावा कर सकते हैं। यह सब केवल यहाँ के तेजस्वी भिक्षुओं के आत्म-त्याग का प्रभाव था। विक्रम की तेरहवी शताब्दी में, देश के दुर्दिन में, इस महाविद्यालय का संहार हुआ था। पर इसकी उज्ज्वल कीर्ति का प्रकाश छिपने वाली चीज न थी। बीसवीं विक्रमीय शताब्दी के प्रारंभिक काल में इसके कुछ प्राचीन चिन्हों के दर्शन हुए। ज्योंही प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनत्संग की यात्राओं का विवरण प्रकाशित हुआ, त्योंही विद्वानों को इसके महत्व का अनुभव हुआ। विक्रम-सम्वत् 1918-19 में कनिंघम साहब की खोज के प्रभाव से मालूम हुआ कि जहाँ इस समय पटना जिले का 'बड़गाँव' नामक ग्राम है, वहीं प्राचीन नालन्दा बसा हुआ था। फिर क्या था, वहाँ चीन, जापान, तिब्बत, बर्मा सिंहल आदि देशों के तीर्थयात्री आने लगे। इसके बाद ही लन्दन की 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' ने हिन्दुस्तान के पुरातत्व-विभाग द्वारा 'बड़गाँव' में खुदाई का प्रबन्ध कराया और प्रान्तीय संग्रहालय में वहाँ से प्राप्त हुई सभी चीजों को सुरक्षित रखने की अनुमति दी। संवत् 1972 में यहाँ खुदाई शुरू करने के लिए

प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ डाक्टर स्पूनर भेजे गये। तब से आजतक खुदाई का काम जारी है और अभी इसके पूरा होने में कई साल लगेंगे। इस खुदाई में यहाँ की इमारतों की भव्यता प्रकट होती है। कई बहुमूल्य चीजें मिलती जा रही हैं। इस प्रकार भारतवर्ष के बौद्ध-कालीन इतिहास को पूर्ण करने की बहुत-सी चमत्कारपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती जा रही है।

'नालन्दा' की खोज

'बड़गाँव' राजगृह से लगभग आठ मील उत्तर की ओर है। पटना जिले के बिहारशरीफ कस्बे से लगभग छः मील दक्षिण में है। बख्तियारपुर बिहार लाइट रेलवे के नालन्दा नामक स्टेशन से यह लगभग ढाई मील है। यहाँ कनिंघम ने दो शिलालेख पाये थे, जिनमें इस स्थान का 'नालन्दा' नाम उल्लिखित है। हुएनत्सांग के वर्णन के अनुसार'नालन्दा' बोध-गया के पवित्र बोध-वृक्ष से सात योजन अर्थात् उनचास मील और राजगृह से तीस 'ली' अर्थात् कोई पांच मील में उत्तर है। 'बड़गांव' के सम्बन्ध में यह दूसरी प्रायः ठीक निकली है। हाल की खुदाई में भी यहाँ ऐसे शिलालेख मिले हैं, जिन पर 'नालन्दा' नाम खुदा है। कई ऐसी-ऐसी मुहरें मिली हैं, जिन पर स्पष्ट 'श्री नालन्दा महाविहारीय आर्य-भिक्षुसंघस्य' लिखा हुआ है। आधुनिक नाम 'बड़गांव' शब्द यहाँ की एक भग्न इमारत पर जमे हुए 'बड़' (वट) वृक्ष से व्युत्पन्न हुआ है।

'बड़गाँव' और 'नानन्द'

किन्तु इधर हाल में 'बड़गाँव' से कुछ उत्तर हटकर पूर्व की ओर चार-पाँच मील की दूरी पर 'नानन्द' नामक एक गाँव का पता चला है। 'नानन्द' भी 'नालन्दा' का विकृत रूप जान पड़ता है। यहाँ भी दूर तक विस्तीर्ण खण्डहर हैं, कई प्राचीन जलाशय भी हैं। हुएनत्सांग का बतलाया हुआ 'दूरी का हिसाब' भी इस स्थान के सम्बन्ध में बड़गाँव से अधिक ठीक उतरता है। 'नानन्द' राजगृह से लगभग 5 मील की दूरी पर है। भग्नावस्था में पड़े हुए यहाँ के एक बिहार में स्थित बुद्ध की एक बड़ी मूर्ति, बैठी हुई मुद्रा में मिली है। उसके ऊपर कुछ लेख भी हैं। प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने उसे पढ़ा है; पर उससे किसी महत्वपूर्ण बात का पता नहीं चलता। श्री P. C. S. ने इस विषय में कुछ जाँच-पड़ताल भी की है। आपका तो यह अनुमान है कि यथार्थ में 'नानन्द' ही असल 'नालन्दा' है। 'बड़गाँव' तो नालन्दा हो ही नहीं सकता। 'बड़गाँव' जिसकी व्युत्पत्ति ब्रांडले साहब ने बिहार ग्राम से बतलाई है,

स्कन्दगुप्त द्वारा स्थापित बिहार ग्राम है। यहाँ के संघारामों के संस्थापक वही होंगे। किन्तु यह अभी अनुमान-ही-अनुमान है। इस सम्बन्ध में जो कुछ सामग्री मिल सकी है, वह वोर्नट साहब के पास जाँच के लिए भेजी गई है। देखें, वे किस निर्णय पर पहुँचते हैं। असल में जब तक इस भाग में खुदाई न हो, तब तक निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है। जो हो, नानन्द के 'नालन्दा' होने की सम्भावनाएँ विश्वास रखते हुए भी हम यह मानने को तैयार नहीं कि बड़गाँव नालन्दा है ही नहीं। हम यह जानते हैं कि 'नालन्दा' महाविहार में दस हजार विद्यार्थियों के रहने का प्रबन्ध था। यह संभव नहीं कि इतने अधिक विद्यार्थियों के रहने का स्थान, एक-डेढ़ मील में ही सीमित हो। उसके लिए चार-पाँच मील या इससे भी अधिक विस्तार का होना सम्भव है। इस प्रकार यदि निश्चयात्मक रूप से भी यह मान लिया जाय कि 'नानन्द' में ही 'नालन्दा' बसा हुआ था, तो भी उसके विस्तार का 'बड़गाँव' तक पहुँचना असंभव नहीं हो सकता। नालन्दा, असल में, बहुत विस्तृत प्रदेश था। और 'बड़गाँव' निस्संदेह उसका एक अन्तस्थ भाग था। इसमें भ्रम या तर्क की कोई गुंजायश नहीं। इसके अनेक प्रमाणों में सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि कनिंघम साहब की खोज के बहुत पहले से 'बड़-गाँव' के ही प्राचीन 'नालन्दा' होने का विश्वास प्रचलित था। विक्रम-सम्वत् 1565 में रचित हंससोम के 'पूर्व-देशचैत्य परिपाटी' ग्रंथ में नालन्दा के साथ उसके वर्तमान नाम 'बड़गाँव' का भी उल्लेख लिखा है—

"नालन्दे पाडे चौद चौमास सुणीजै।
होड़ा लोक प्रसिद्ध ते बड़गाँव कहीजै।
सोल प्रसाद तिहाँ अच्छै जिन बिम्ब नमीजै।"

इस प्रकार यह प्रकट है कि विक्रम की सोलहवीं शताब्दी से भी पहले लोगों को यह मालूम था कि यह बड़गाँव उस प्राचीन 'नालन्दा' का ही वर्तमान रूप है। प्राचीन नालन्दा की स्थिति वे भूले न थे, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि नानन्द में यदि खुदाई का काम जारी हो तो उससे हमारे नालन्दा विषयक ज्ञान में अत्यन्त महत्वपूर्ण सत्य का विकास होगा। नालन्दा का उल्लेख कई बौद्ध-ग्रंथों में भी हुआ है। शांत-रक्षित का 'तत्व-संग्रह' कमल शील की 'तत्वसंग्रह पंजिका' तथा नालन्दा के पंडितों के और भी कई तान्त्रिक ग्रंथ मिलते हैं।

नालन्दा के वर्णन में उनसे विशेष सहायता नहीं मिलती। केवल 'अष्ट-साहस्रिका प्रज्ञापारमिता' और कुछ अन्य प्राचीन ग्रंथ जिनकी प्रतिलिपि पालवंशी राजाओं के समय में तैयार की गई थी—ऐसे हैं जिनसे कुछ विशेष सूचनाएँ मिलती हैं। पालिग्रंथ महाविहार की स्थापना के बहुत पहले की बातों का उल्लेख करते हैं। जब इस स्थापना का सम्बन्ध स्वयं भगवान बुद्ध से था। इस सम्बन्ध में

हमें हुएनत्सांग, इत्सिग, बुकुंग आदि चीनी यात्रियों तथा तिब्बती 'तारानाथ' के विवरणों से ही विशेष सहायता मिलती है। और अब तो खुदाई में बहुत-से ऐसे शिलालेखादि भी मिले हैं, जिनसे महाविहार-सम्बन्धी कई बातों पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। श्री महावीर स्वामी तथा उनके एक श्रेष्ठ और प्रचीन शिष्य इन्द्रभूति के सम्बन्ध के कारण जैनी लोग भी अब उस स्थान को तीर्थ समझते हैं। 'सूत्र-कृतांग' सरीखे कुछ जैन-ग्रन्थों में नालन्दा का अच्छा वर्णन है, जिससे मालूम होता है कि ईसवी सन् के पहले भी नालन्दा बहुत समृद्ध और समुन्नत नगर था। कल्प-सूत्र में लिखा है कि यहाँ भगवान् महावीर स्वामी ने चातुर्मास्य बिताया था। इतना ही नहीं, भगवान् बुद्ध ने 'संपसादनीयसुत्त' और 'केवद्धसुत्त' का प्रवर्तन नालन्दा में ही किया था। हुएनत्संग ने लिखा है—इस स्थान पर एक प्राचीन आम्रवाटिका थी, जिसको 500 व्यापारियों ने दस कोटि मुद्रा में मोल लेकर बुद्धदेव को समर्पित कर दिया। नालन्दा के 'लेय' नामक एक निवासी के धन, जन, यश और वैभव की बड़ी प्रशंसा थी। यहाँ के 'केवद्ध' नामक एक धनी सज्जन को हम भगवान् बुद्ध के सामने नालन्दा के प्रभाव और पवित्रता की बड़ी बड़ाई करते हुए पाते हैं।'आनन्द' के मत से तो नालन्दा पाटलिपुत्र से भी बढ़कर था, क्योंकि नालन्दा ही भगवान् बुद्ध के निर्वाण के लिए उपयुक्त स्थान था, पाटलिपुत्र नहीं। इससे नालन्दा के पाटलिपुत्र से अधिक प्रचीन और श्रेष्ठ होने का परिचय मिलता है। फाहियान के अनुसार सारिपुत्र का जन्म-स्थान 'नाल' ग्राम था। कुछ विद्वानों का ख्याल है कि 'नाल' नालन्दा का ही द्योतक है। यहीं बुद्धदेव से सारि-पुत्त की भेंट हुई और भगवान् ने अपने प्रिय शिष्य की कठिनाइयों का समाधान किया। तिब्बत लामा तारानाथ के अनुसार यहीं सारिपुत्र ने अस्सी हजार अर्हन्तों के साथ निर्वाण प्राप्त किया। बड़गाँव में, हाल की खुदाई में, भूमि-स्पर्श मुद्रा में, भगवान् बुद्ध की एक मूर्ति मिली है, जिसमें आर्य सारिपुत्र और आर्य मौद-गल्यायन उड़ते हुए रूप में चित्रित हैं। ये दोनों भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्य थे। इन पवित्र संसर्गों के कारण नालन्दा बहुत प्राचीन समय से पुण्यस्थान माना जाता था। इसके अतिरिक्त यह 'राजगृह' से बहुत निकट है, जो बौद्धों का प्राचीन और प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है। मगध की राजधानी पाटलिपुत्र भी इस स्थान से बहुत दूर नहीं है।

यहाँ की प्राकृतिक शोभा और शान्ति भी चित्ताकर्षिणी थी। इस स्थान की इन्हीं विशेषताओं से आकृष्ट होकर एक महान उच्च आदर्श को लिये हुए आत्म-व्रती बौद्ध भिक्षुकों ने यहाँ नालन्दा महाविहार की स्थापना की थी।

महाविहार की स्थापना काल का निर्णय

परन्तु यह स्थापना कब हुई है, इस सम्बन्ध में मतभेद है। तारानाथ के अनुसार इसके सर्वप्रथम स्थापक अशोक थे। हुएनत्संग ने भी लिखा है कि बुद्ध निर्वाण के थोड़े ही दिन बाद यहाँ के प्रथम संघाराम का निर्माण हुआ, पर नालन्दा महाविहार की इतनी अधिक प्राचीनता का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। फाहियान ने (सन् 958 के लगभग) नालन्दा का कोई उल्लेख नहीं किया है। उसने 'नालों' नामक एक स्थान का जिक्र किया है, जिसे कुछ लोग 'नालन्दा' का ही रूपान्तर समझते हैं। जो हो, यह तो स्पष्ट है कि उस समय नालन्दा में कोई ऐसा विशेष महत्व न होगा, जो फाहियान को आकृष्ट करता। विक्रम की सातवीं सदी (सम्वत् 687-703) में हुएनत्संग आया था। उस समय नालन्दा महत्व और ख्याति की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ था, इस बात के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि नालन्दा महाविहार की स्थापना फाहियान के आने के बाद और हुएनत्संग के आने के पहले हुई थी—पाँचवीं और सातवीं सदी के बीच में। कनिंघम और स्पूनर ने पाँचवीं ईसवी सदी के मध्य में इसकी स्थापना का समय निश्चित किया है। मगध के राजा बालादित्य, जिन्होंने नालन्दा में उच्च विहार का निर्माण कराया था। हूणाधिपति मिहिरकुल के समकालीन थे। मिहिरकुल सम्वत् 572 (सन् 515 ई०) में राज्य करता था। इसलिए बालादित्य का भी समय यही हुआ। विंसेन्ट स्मिथ के अनुसार बालादित्य का भी राज्य काल सन् 467 ई० से 473 तक होना चाहिए। बालादित्य के पहले उनके तीन पूर्वजों ने भी यहाँ संघाराम बनवाये थे, और उनमें शक्रादित्य सर्वप्रथम थे। इस तरह नालन्दा-महाविहार की स्थापना का समय विक्रम की पाँचवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जान पड़ता है। पर मेरा अनुमान तो यह है कि नालन्दा में बुद्ध के निर्वाण के कुछ समय बाद विश्वविद्यालय की न सही, पर किसी विहार की स्थापना अवश्य हुई होगी। हुएनत्संग के कथन में जिसका समर्थन लामा तारानाथ भी करते हैं, तब तक बिल्कुल अविश्वास करना अनुचित है, जब तक खुदाई समाप्त न हो जाय, मेरा विश्वास है कि "नानन्द" नामक गाँव में अब यदि खुदाई का काम जारी किया जाय, तो बहुत सम्भव है कि नालन्दा की प्राचीनता के और अधिक प्रमाण मिलें।

महाविहार के संस्थापक और संरक्षक

नालन्दा के प्रथम संघाराम के बनाने वाले राजा शक्रादित्य थे। हुएनत्संग के मत के अनुसार इनका समय ईसवी सन् की शताब्दी प्रथम में होना चाहिए।

पर यह मत अन्य विद्वानों को मान्य नही हैं।

शक्रादित्य के पुत्र और उत्तराधिकारी बुद्धगुप्त राज ने प्रथम संघाराम के दक्षिण में, एक दूसरा संघाराम बनवाया। तीसरे राजा तथागत गुप्त ने दूसरे के पूर्व में एक तीसरा संघाराम बनवाया। इसके उत्तर-पूर्व में बालादित्य ने एक चौथा संघाराम बनवाया। उनके पुत्र वज्र ने अपने पिता के बनवाये हुए संघाराम के पश्चिम में एक और संघाराम बनवाया। अन्त में फिर उनके संघाराम के उत्तर में मध्य भारत के किसी एक राजा ने एक और संघाराम बनवा दिया। और इन सभी संघारामों की एक ऊँची चहारदीवारी से घिरवा भी दिया। इसके बाद भी अनेक राजा सुन्दर तथा भव्य निर्माण से, नालन्दा को सुशोभित करते रहे। रेवरेण्ड हिरास ने एक विद्वत्तापूर्ण लेख में उक्त चारों राजाओं के नाम को गुप्त-वंशीय प्रसिद्ध राजाओं को नामान्तर सिद्ध किया है उनका समीकरण इस प्रकार है।—

शक्रादित्य	कुमारगुप्त (प्रथम)
बुद्धगुप्त-राज	स्कंदगुप्त
तथागतगुप्त-राज	पुरगुप्त
वालादित्य-राज	नरसिंह गुप्त

(१) गुप्तवंश

यद्यपि विद्वानों ने अभी इस समीकरण पर विशेष विचार नहीं किया है, तथापि इसकी सत्यता पर हमें सन्देह नहीं। कम-से-कम यह तो सबको मानना पड़ेगा कि बालादित्य राजा और कोई नहीं नरसिंह गुप्त ही थे। नरसिंह गुप्त की मुद्राओं में बालादित्य की उपाधि है। इसी तरह शक्रादित्य का प्रथम कुमार गुप्त होना सर्वथा सम्भव है। कुमार गुप्त की मुद्राओं पर महेन्द्रादित्य की उपाधि अंकित है। 'महेन्द्र और शक्र' का अर्थ एक ही है। अतएव शक्रादित्य सम्भवतः कुमारगुप्त (प्रथम) के सिवा और कोई न थे। आचार्य वामन के 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में कुमार गुप्त के विद्यानुराग का उल्लेख है। उनके समय में गुप्तों का पराक्रम बड़ा प्रखर था। अतएव उनका नालन्दा महा-विहार जैसे विद्या केन्द्र का प्रथम स्थापक होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। उनके बाद उनके वंशज राज मालन्दा की श्रीवृद्धि और संरक्षण में दत्त-चित्त रहे। गुप्तवंशी राजाओं का समय भारतवर्ष का स्वर्ण युग कहा जाता है। उस समय देश बड़ा उन्नत और समृद्ध था। ऐसे समय में नालन्दा महा-विहार की स्थापना होना सर्वथा स्वाभाविक है। यद्यपि ये राजा हिन्दू थे, तथापि इन्होंने अपने विद्या-प्रेम तथा धार्मिक सहिष्णुता से प्रेरित होकर महा-विहार की स्थापना की और उसकी

उन्नति करने में निरन्तर तत्पर रहे।

कुमारगुप्त (प्रथम) का एक शिलालेख भिक्षु बुद्धमित्र द्वारा बुद्ध एक मूर्ति के निर्माण का संस्मारक है। ऐसी दशा में यह बात सन्देहातीत जान पड़ती है कि इन पराक्रमी और विद्या-प्रेमी राजाओं द्वारा "नालन्दा" महा-विहार का उत्तरोत्तर अभ्युदय होता गया।

(२) हर्षवर्धन

बालादित्य (नरसिंह गुप्त) के पुत्र वज्र (कुमार गुप्त द्वितीय) के बाद नालन्दा महा-विहार के संरक्षकों में हुएनत्संग ने मध्यभारत के जिस राजा का उल्लेख किया है, वह सम्भवतः कन्नौज के हर्षवर्धन ही थे।

श्री हर्षवर्धन प्राचीन भारतवर्ष के एक प्रतिभाशाली एवं शक्तिसम्पन्न नरेश थे। उनके राजत्वकाल में, जो 606 से 647 ईसवी तक माना जाता है, कन्नौज सर्वथा उन्नति के शिखर पर पहुँचा। उस समय पाटलिपुत्र का जो बौद्ध-काल से लेकर गुप्त-शासन पर्यन्त राजनीतिक तथा धार्मिक ज्ञान को केन्द्र माना जाता था, सूर्य अस्त हो चुका था। इसलिए, कन्नौज का कोई प्रतिद्वन्दी न होने के कारण वही नगर उत्तरीय भारत में सर्वश्रेष्ठ तथा सुरम्य माना जाने लगा। किन्तु हर्ष के शासन का महत्व केवल इतना ही नहीं कि उन्होंने कन्नौज राज्य को चतुर्दिक विस्तृत किया और बौद्ध-धर्म में पुनः जागृति उत्पन्न की, इतिहास में उनकी ख्याति का मुंख्य कारण यह भी है कि उनकी नीति बहुत ही उदार और हितकारी थी—उन्होंने विद्वानों का सम्मान बढ़ाया, अपनी प्रजा में शिक्षा का प्रचार किया। प्रसिद्ध चीनी यात्री "हुएनत्संग" के अनुसार हर्ष, भूमि-कर का चतुर्थांश तत्कालीन उच्च-कोटि के विद्वानों, ग्रन्थकर्ताओं तथा धार्मिक नेताओं को पुरस्कृत करने के लिए पृथक् रखते थे। इस प्रकार राजा से प्रतिष्ठा पाकर उन लोगों के उत्साह की वृद्धि होती थी—वे दत्तचित्त होकर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने ही में अपना कालाक्षेप करते थे। जिसका उल्लेख 'हुरली' रचित हुएनत्संग के जीवन चरित्र से यह भी विदित होता है कि हर्ष ने जयसेन के पांडित्य से प्रसन्न होकर उसको उड़ीसा के अस्सी नगरों का कर प्रदान किया था। किन्तु धन्य है जयसेन का आत्मत्याग कि उसने इस प्रचुर सम्पत्ति को भी अस्वीकृत कर दिया। उस समय जयसेन की कीर्ति-पताका, उसकी विद्वत्ता और धर्मनिष्ठा के कारण समस्त बौद्ध-संसार में फहरा रही थी।

'हर्ष' नालन्दा-विश्वविद्यालय के भी संरक्षक थे। वहां पर उन्होंने एक सुन्दर मन्दिर का निर्माण कराया, जो पीतल की चादरों से आच्छादित था। नालन्दा विश्वविद्यालय उस समय सब विद्याओं का केन्द्र था। उसकी मर्यादा इतनी बढ़ी-

चढ़ी थी कि उसके प्रति उदारता प्रदर्शित करने के हेतु राजाओं में प्राय: प्रतिस्पर्धा हुआ करती थी। हुएनत्संग का जीवन चरित्र हमें यह बताता है कि उसके भव्य-भवनों के निर्माण का श्रेय एक के बाद दूसरे इस प्रकार छ: राजाओं को प्राप्त है। देश के अधीश्वर (हर्ष) ने उसके लिए एक सौ ग्रामों का कर प्रदान किया था। हुएनत्संग ने उसके विशाल एवं कई मंजिलों वाले भवनों की अत्यधिक प्रशंसा की है, उन भवनों के शिखर बहुमूल्य रत्नों से जटित और ऊपरी प्रकोष्ठ गगन-चुम्बी थे। नालन्दा विश्व-भारती में कई सहस्र छात्र विद्योपार्जन करते थे। उनमें से बहुतेरे छात्र तो अपनी पिपासा को तृप्त करने तथा अज्ञान जनित अन्धकार को दूर करने के लिए विदेशों से आते थे। वे अपने संघ के आचार और नियमों के पालन में बड़े कट्टर होते थे, इसलिए अखिल भारतवर्ष में आदर्श माने जाते थे। अध्ययन एवं शास्त्रार्थ में वे इतना व्यस्त रहते थे कि दिन कब बीत गया, इसका उन्हें ज्ञान तक न होता था। अहर्निश शास्त्र चर्चा से उनकी ज्ञानक्षुधा उत्तेजित हुआ करती थी। उच्च तथा निम्न श्रेणी के "भ्रातृगण" परस्पर के सहयोग से विद्या प्राप्त करने में सर्वथा सफल होते थे। वे महायान तथा अष्ठादश बौद्ध-सम्प्रदायों के ग्रन्थों का भी अध्ययन करते थे, यही नहीं किन्तु साधारण पुस्तकों, वेदादि, हेतु विद्या शब्द विद्या, चिकित्सा-विद्या, इन्द्रजाल विद्या, अथर्व वेद तथा सांख्यादि के अतिरिक्त वे अन्यान्य ग्रन्थों, का भी अवलोकन तथा पाठ करते थे। इससे यह स्पष्ट है कि नालन्दा-विद्यापीठ का उद्देश्य विद्यार्थियों को केवल प्राचीन रूढ़ियों एवं परम्पराओं की शिक्षा देना न था किन्तु विशेषकर उसका लक्ष्य छात्रों में बौद्धिक और आत्मिक ज्ञान-ज्योति को जागृत करना था। उसकी सफलता का परिचय उसके कुछ स्नातकों के नामोल्लेख ही से भलीभांति मिल सकता है। उन स्नातकों में धर्मपाल, गुणमति, स्थिरमति, चन्द्रपालादि ऐसे प्रगाढ़ पण्डित थे कि उनकी बुद्धि के चमत्कार तथा सदाचार से समस्त बौद्ध-संसार गौरवान्वित था। नालन्दा की कीर्ति यहाँ तक चतुर्दिक फैल गई थी कि जो कोई अपने को इसका स्नातक बताता वह सर्वत्र सम्मानास्पद समझा जाता था।

हर्षवर्धन स्वयं कई प्रख्यात विद्वानों के संरक्षक थे। इस बात से भी हम जान सकते हैं कि साहित्य में उनकी कितनी अभिरुचि थी। उनकी सभा के मार्तण्ड 'वाणभट्ट' थे, जिन्होंने अपने संरक्षक की प्रशस्ति में 'हर्षचरित्र' नामक ग्रन्थ लिखा है। वाणभट्ट रचित और भी कई ग्रन्थ हैं—चण्डीशतक, कादम्बरी और पार्वती-परिणय। आश्चर्य की बात है कि कादम्बरी तथा हर्षचरित्र दोनों कथाओं को वाणभट्ट अपूर्ण छोड़ गये। पश्चात् वाणभट्ट के पुत्र भूषण भट्ट ने—जहाँ कादम्बरी के शोक का वर्णन करना है, वहाँ से लेकर अन्त तक इस कथा की। समाप्ति की भाग्यवश भूषण भट्ट भी एक उद्‌भट विद्वान था, इसलिये उत्तरार्द्ध की शैली और भाषा पूर्वार्द्ध ही के अनुरूप है। वस्तुत: अनुकरण इतना उत्तम है कि

दोनों एक ही लेखक के लिखे मालूम होते हैं ।

हर्ष के साहित्य दल का दूसरा रहस्य मयूर कवि था । तत्कालीन साहित्य भण्डार में—'सूर्यशतक', उसकी प्रधानं कृति है । इसके पूर्व उसने 'मयूरशतक' लिखा था । इन दोनों के क्रम सम्बन्ध में एक जनोक्ति प्रसिद्ध है कि 'मयूरशतक' की रचना के पश्चात कवि को कुष्ट व्याधि हो गई थी, और जब उसने सूर्यशतक बनाया तब रोग शान्त हो गया । मयूर कवि हर्ष ही का सभासद था, इसकी पुष्टि 'सारंगधर-पद्धति' तथा सूक्तिमुक्तावली' के इस पद्य से भी होती है—अहो प्रभावो वाग्देव्या यन् मातंग दिवाकरः, श्री हर्षस्याभवत् सभ्यः समोबाणमयूरयोः' अर्थात् श्री सरस्वती देवी की महिमा इतनी है कि दिवाकर नाम का अछूत भी बाण और मयूर के समान श्री हर्ष की सभा का सभासद् हुआ । इस प्रसिद्ध श्लोक में 'मातंग दिवाकर' नाम के एक और कवि का उल्लेख है । खेद है कि इस विद्वान के सम्बन्ध में अभी तक कोई प्रकाश नहीं डाला गया, किन्तु साहित्य-गगन में इसकी ज्योति का इसी से पता लग सकता है कि इसको हर्ष द्वारा पर्याप्त सम्मान और आदर प्राप्त हुआ था ।

हुएनत्सांग ने तो लिखा है कि और भी कई राजाओं से आवश्यक सामग्री तथा सहायता मिलती रही । बड़गाँव में मौखेरियों की दो मुद्रा मिली हैं । मौखारी राजा पूर्णवर्मा के सम्बन्ध में हुएनत्सांग ने स्पष्ट लिखा है कि उन्होंने नालन्दा में बुद्ध की एक खड़ी ताम्र-प्रतिमा बनवाई थी । जिसकी ऊँचाई 80 फीट थी और जिसके रखने के लिए 6 मंजिल ऊँचे भवन की आवश्यकता थी । इसी प्रकार हर्षवर्धन के अन्य मित्र राजाओं से सहायता मिलती थी ।

(३) पालवंश

हर्षवर्धन के बाद नालन्दा-महाविहार का संरक्षण प्रधानतः पालवंशी राजाओं द्वारा होता रहा, पालों के आधिपत्य का सूत्रपात आठवीं ईसवी सदी के आरम्भ से होता है । उस समय से बारहवीं सदी तक विश्वविद्यालय उन्हीं के संरक्षण में रहा । खुदाई में पालवंशियों की कई मुद्रायें मिली हैं । देवपाल के शिलालेख से मालूम होता है कि उन्होंने वीरदेव को प्रधानाध्यक्ष बनाया था । पालवंश के प्रथम राजा 'गोपाल' (प्रथम) ने (ई० सन् 730-769) ओदंतपुर में एक विहार की स्थापना की और धर्मपाल ने (ई० सन् 769-809) विक्रमशिला में एक दूसरे विहार की स्थापना की । फिर भी नालन्दा महाविहार को इन पालवंशी राजाओं से समुचित सहायता मिलती गई । इन राजाओं के ऐसे शिला लेख मिले हैं, जिनमें विश्वविद्यालय के लिए दिए इनके दानों का उल्लेख है । 'अष्ट साहस्त्रिका प्रज्ञा-पालिका' की एक प्रतिलिपि में इस वंश के अन्तिम राजा 'गोविन्दपाल' का नाम

भी नालन्दा से सम्बद्ध है। 'अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापालिका' की एक प्रतिलिपि नालन्दा में गोविन्दपाल के चौथे वर्ष (ई० सन् 1165) में तैयार हुई थी। इस के थोड़े ही दिन बाद मुसलमानों के हाथ से इस विशाल विद्यालय का ध्वंस हुआ। इसके बाद फिर एक बार इसे पुनरुज्जीवित करने की चेष्टा का उल्लेख है। पर वह चेष्टा विफल हुई। अन्त में कुछ तीर्थिकों ने आग लगा इसे जला डाला।

स्थान का नामकरण

हम ऊपर लिख चुके हैं कि आरम्भ से ही नालन्दा को देश के विद्यानुरागी राजा-महाराजाओं से यह अपरिमित सहायता मिलती रही। सम्भव है कि इसी कारण इस स्थान का नाम 'नालन्दा' (अनन्तदान) पड़ गया हो। पर इस बात के सम्बन्ध में हुएनत्संग ने बड़ी दिलचस्प बातें लिखी हैं—जनश्रुति यह थी कि संघाराम के दक्षिण में आम्रवाटिका के बीच एक तालाब था। उसके निवासी नाग का नाम नालन्दा था और उसी से इस स्थान का यह नाम पड़ गया। किन्तु हुएनत्संग यह मत स्वीकार नहीं करता। प्राचीन काल में तथागत भगवान जब बोधिसत्व का जीवन व्यतीत कर रहे थे तब एक बार एक बड़े देश के राजा हुए, और इसी स्थान को अपनी राजधानी बनाया। करुणा से आर्द्र होकर वे निरन्तर यहाँ के जीवों के दुःख दूर करने में तल्लीन रहते थे। इसकी स्मृति में वे 'अनन्त उदारता के अवतार'—अथवा 'न-अअं-दा' (अप्रतिम-दानी) कहे जाने लगे, और संघाराम का यह नामकरण उसी स्मृति की रक्षा के लिए हुआ। हुएनत्संग 'जातक कथा' के आधार पर नालन्दा नाम की यही व्युत्पत्ति मानता है। किन्तु इत्सिंग उपर्युक्त जनश्रुति वाली ही बात को सच बताता है। हाल में पं० हीरानन्द शास्त्री ने एक और मनोरंजन सिद्धांत पेश किया है—

वे नालन्दा की व्युत्पत्ति 'नल' अर्थात् कमल के फूलों से बतलाते हैं। कमल के फूल आज भी नालन्दा में प्रचुरता से पाये जाते हैं। पर जो हो, हुएनत्संग के समय में नालन्दा का नाम दिगदिगन्त में व्याप्त हो गया था। इसकी उज्ज्वल कीर्ति-कौमुदी विश्व-विस्तृत हो चली थी। इसके यश सौरभ से आकृष्ट होकर ही सुदूर देशों से हजारों यात्री और विद्यार्थी यहाँ आते थे। उन दिनों रेल न थी। मार्ग में बीहड़-से-बीहड़ स्थल थे। डाकुओं और वन्य-जन्तुओं का भय था। इत्सिग और हुएनत्संग के विवरणों को पढ़ने से यह पता लगता है कि कैसी-कैसी कठिनाइयों को पार करके वे यहाँ पहुँचे थे। वैसे दिनों में दारुण कष्टों और विघ्नों का सामना करते हुए, विदेशियों के दल-के-दल का यहाँ आना नालन्दा की महत्ता का द्योतक है। उस महत्ता को सुरक्षित रखने का श्रेय चीनी यात्रियों को है, जिनके यात्रा-विवरण हमारे इतिहास के रत्न हैं। हुएनत्संग इत्सिग, कि-ई,

बुकुँग आदि के यात्रा-वृत्तांतों में हमें नालन्दा की शिक्षा-पद्धति आदि का बड़ा ही रोचक विवरण मिलता है।

प्रवेशिका-परीक्षा और शिक्षा-पद्धति

नालन्दा की शिक्षा-प्रणाली कितनी उच्च-कोटि की थी, इसका कुछ अनुमान हम हुएनत्सांग के दिये हुए द्वार-पण्डित से कर सकते हैं। हम कह चुके हैं कि विद्यालय के चारों ओर, मध्यभारत के किसी राजा की 'जो सम्भवतः हर्षवर्धन ही थे' बनवाई हुई एक ऊँची प्राचीर थी। उसमें केवल एक ही द्वार था। उस द्वार पर एक प्रकांड विद्वान् द्वार पण्डित रहता था। वह उन नये विद्यार्थियों की परीक्षा लेता था, जो विद्यालय में दाखिल होने के लिए सुदूरवर्ती देशों से आते थे। यही उन लोगों की प्रवेशिका-परीक्षा थी। जो द्वार-पण्डित के प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर न दे सकते थे, उन्हें निराश होकर लौट जाना पड़ता था। इस परीक्षा में सफल होने के लिए प्राचीन और नवीन ग्रन्थों का मननशीलतापूर्वक अध्ययन करना आवश्यक था। नवागत विद्यार्थियों को कठिन शास्त्रार्थ द्वारा अपनी योग्यता सिद्ध करनी पड़ती थी। यह परीक्षा इतनी कठिन थी कि इसमें 7 या 8 प्रवेशार्थी असफल होकर लौट जाते थे।

विक्रमशिला में भी यही प्रणाली थी। वहाँ 6 द्वार थे। सब पर एक-एक द्वार पण्डित थे। जो दो-तीन सफल होते थे उनका भी सारा अभिमान विद्यालय के भीतर जाने पर चूर हो जाता था, तारीफ तो यह कि द्वार-परीक्षा की कठिनता होते हुए भी हुएनत्सांग के समय में विद्यार्थियों की संख्या 10000 थी।

लब्ध-प्रतिष्ठ बौद्ध-भिक्षु उनके अध्यापक थे। शिक्षा-पद्धति ठीक प्राचीन गुरु-कुलों के ढंग की थी। छात्रों और अध्यापकों में बड़ा स्नेह था। छात्र बड़े गुरु-भक्त थे। 'तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया' इन तीनों के सुभग सम्मिश्रण से छात्रों का जीवन दीप्तिमान था। बौद्ध-धर्म ग्रन्थों के अतिरिक्त वेद, हेतुविद्या, शब्दविद्या, तन्त्र, सांख्य तथा अन्य विविध विषय भी पढ़ाये जाते थे। सर्वांगीण शिक्षा के प्रभाव से, हुएनत्सांग के समय में, एक सहस्र ऐसे विद्वान थे जो दस विषयों में निपुण थे। पाँच सौ ऐसे थे जो 30 विषयों में पण्डित थे, और 10 ऐसे थे, जो 50 विषयों में पारंगत थे। तत्कालीन कुलपति 'प्रधानाचार्य शील भद्र' तो सभी विषयों के पारदर्शी थे। हुएनत्सांग ने यहाँ आकर इन्हीं का शिष्यत्व ग्रहण किया था। पुनः इत्सिंग के विवरण से पता चलता है कि यहाँ शिक्षा के दो विभाग थे। प्राथमिक और उच्च। प्राथमिक शिक्षा में सबसे पहले व्याकरण पढ़ना पड़ता था। उसके बाद क्रम से हेतुविद्या, अभिधर्म कोष और जातकर का अध्ययन करना पड़ता था। इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर लेने पर विद्यार्थी उच्च शिक्षा ग्रहण

करने के योग्य होते थे। तब उन्हें विद्वान अध्यापकों के साथ सम्भाव्य प्रश्नों पर शास्त्रार्थ करके ज्ञानार्जन करना पड़ता था। इस तरह जब उनकी शिक्षा समाप्त हो जाती थी तब वे राजसभा में जाते थे; वहाँ अपनी विद्वत्ता का परिचय देकर किसी राजकीय पद पर नियुक्त होते अथवा भूमि आदि का दान पाते थे। प्रखर प्रतिभा वाले विद्वानों की स्मृति-रक्षा के लिए उनका नाम प्रमुख एवं उच्च द्वारों पर धवल वर्णों में अंकित कर दिया जाता था। परन्तु जिन लोगों की प्रवृत्ति अधिक विद्या प्राप्त करने की होती थी, वे और काम न करके अपने अध्ययन का क्रम पूर्ववत रखते थे। उन्हें वेदों और शास्त्रों का भी अध्ययन करना पड़ता था। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध आदर्श था। परस्पर वार्त्तालाप में गुरुओं से शिष्यों को निरन्तर अमूल्य उपदेश मिला करते थे। हुएनत्संग ने लिखा है कि सारा दिन ज्ञान-चर्चा और वाद-विवाद तथा गूढ़ प्रश्नों के समाधान में बीतता था।

नियमानुशासन

विद्यालय का नियमानुशासन भी प्रशंसनीय था। सब लोगों को संघ के उन सभी नियमों का पालन करना पड़ता था, जिन्हें स्वयं भगवान बुद्ध ने स्थिर किया था। भेदभाव का नाम न था। राजा हो या रंक, छोटा हो या बड़ा, बूढ़ा हो या जवान—सब पर नियम समान भाव से लागू थे।

जो लोग जितने अधिक वर्ष के शिष्य होते थे, उनका पद उतना ही उच्च गिना जाता था। अर्थात् विद्या के अनुसार उनका पद होता था।

संघ के सभी निवासियों को सब काम ठीक समय पर करना पड़ता था। पूजा-पाठ, भोजन-शयन सबके लिए समय नियत था। समय ज्ञान के लिए जल-घड़ी का प्रबन्ध था। उसी के अनुसार सूचना देने के लिए घंटा बजाया जाता था। घंटा बजाने के लिए लड़के और 'कर्मदान' (विशेष कर्मचारी) नियुक्त थे। इत्सिग ने जल-घड़ी और घंटे का बड़ा रोचक वर्णन किया है। यदि कोई अनियत समय पर कोई काम करते पाया जाता था तो नियमानुसार दण्ड का भी भागी होता था। हुएनत्संग लिखता है—"इस संघाराम के नियम जैसे कठोर हैं वैसे ही साधु लोग भी उनका पालन करने में तत्पर हैं, और सम्पूर्ण भारतवर्ष भक्ति के साथ इन लोगों का अनुसरण करता है। इतना ही नहीं, विद्यार्थियों को इन नियमों के अतिरिक्त विनय और शिष्टता के नियमों का भी पालन करना पड़ता था। व्यसन का तो उनमें नाम भी न था। उनका चरित्र शुद्ध और जीवन तपस्यामय था। छात्रावास की कोठरियों में उनके सोने के लिए जो पत्थर के मंच बने हुए हैं वे इस ढंग के हैं कि उन पर शायद ही कोई सुख की नींद सो सके? निश्चय ही वे जान-बूझकर ऐसे बनाये गये थे। उनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि वहाँ विद्यार्थी

जीबन में 'श्वान-निद्रा' के आदर्श का किस प्रकार पालन किया जाता था। संघा-राम की एक-एक कोठरी में एक-एक विद्यार्थी के रहने का प्रबन्ध था। उसी में उनकी चीजें रखने तथा सोने की भी व्यवस्था थी। विद्यालय में ऐसे सौ मंच बने हुए थे, जिन पर गुरु बैठकर शिष्यों को शिक्षा देते थे। वाद-विवाद के लिए बड़े-बड़े कमरे बने हुए थे, जिनमें दो हजार भिक्षु एक साथ बैठ सकते थे। ज्योतिर्विद्या की पढ़ाई के लिए ऊँचे-ऊँचे मानमन्दिर बने हुए थे।

विद्यालय के आय-व्यय आदि का प्रबन्ध

वह विशुद्ध निःशुल्क शिक्षा थी। बिना किसी तरह के खर्च के ही विद्यार्थियों की दैनिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाती थीं। हुएनत्संग ने लिखा है कि देश के तत्कालीन राजा ने एक सौ गांवों का कर विद्यालय के लिए अलग कर दिया था। यह राजा सम्भवतः 'हर्ष' ही होगा। हर्ष के सम्बन्ध में हुएनत्संग ने लिखा है—''जब हर्ष ने संघाराम में बुद्ध-प्रतिमा बनवाने का निश्चय किया, तब उन्होंने कहा, मैं अपनी भक्ति प्रदर्शित करने के लिए प्रतिदिन संघ के चालीस भिक्षुओं को भोजन कराऊँगा। इसके अतिरिक्त उक्त गाँवों के 200 गृहस्थ भी कई सौ मन चावल और कई सौ मन दूध तथा मक्खन प्रतिदिन दान करते थे।

विद्यालय की ओर से विद्यार्थियों के अन्न, वस्त्र, शैय्या और औषधि का समुचित प्रबन्ध था। हुएनत्संग जब तक नालन्दा में रहा, तब तक उसे 120 अंजीर, 20 सुपारी, आधा छटाँक कपूर और लगभग 3॥ छटाँक महाशील चावल मिलता रहा। इसके अतिरिक्त उसे प्रतिमास लगभग 3-4 छटाँक तेल यथेष्ट मक्खन और अन्य आवश्यक वस्तुएँ भी मिलती थीं। इत्सिंग के समय में विद्यालय के अधिकार में 200 गाँव आ चुके थे। मालूम होता है हुएनत्संग के बाद और इत्सिंग के समय तक सौ और गाँवों का कर विद्यालय के खर्च के लिए मिल चुका था। ये गाँव राजाओं की कई पीढ़ियों के दान के फल थे। आगे चलकर पालवंशी राजाओं के समय में भी इस तरह की सहायता और दान की प्रणाली जारी रही। श्री हीरानन्द शास्त्री को नालन्दा में श्री देवपाल देव का एक ताम्रपत्र मिला था। उसमें देवपाल द्वारा महाविहार के संचालक के एक और चतुर्दिक से आये हुए भिक्षुकों के सेवा-सत्कार तथा धर्म-ग्रन्थों के लिखने के लिए 'राजगृह' और 'गया' जिले के पाँच गाँवों के दान का उल्लेख है। इसी प्रकार अन्त तक एक के बाद दूसरे राजा से सहायता मिलती गई। इसीलिए यहाँ के विद्यार्थी, जीवन की आवश्यकताओं की चिन्ता से मुक्त होकर, निःशुल्क शिक्षा पाते हुए निरन्तर ज्ञानार्जन में दत्त-चित्त रहते थे।

पुस्तकालय

विद्यालय में एक विशाल पुस्तकालय भी था। इसके लिए यहाँ के 'धम्मगंज' नामक स्थान में तीन भव्य भवन बने हुए थे—रत्नसागर, रत्नदधि और रत्नरंजक। इनमें रत्नदधि तो खण्ड का था। इन खण्डों में असंख्य पुस्तकें सजी रहती थीं। पुस्तकालय में बौद्ध-धर्म ग्रन्थों की प्रतिलिपि तैयार करने के लिए अनेक भिक्षु नियुक्त थे। दूर-दूर देशों के विद्वान भी आकर यहाँ के ग्रन्थों की प्रतिलिपि ले जाया करते थे। हुएनत्संग यहाँ दो वर्ष रहकर 657 ग्रन्थों की प्रतिलिपि तैयार करके अपने साथ ले गया था। इत्सिंग भी अपने साथ कोई 400 पुस्तकों की प्रतिलिपि ले गया। नालन्दा के हस्तलिपिकार अपनी तैयार की हुई हस्तलिपि में अपने नाम के साथ-साथ तत्कालीन राजा के राज्यकाल का भी उल्लेख कर देते थे। यही कारण है कि नालन्दा की जो हस्तलिखित पुस्तकें आजकल यत्र-तत्र मिल जाती हैं, उनके समय का बोध सुगमता से हो जाता है। ऐसे मिल जाने वाले ग्रन्थों में कितने ही पाल-कालीन होते हैं। इससे मालूम होता है कि उस समय बहुत से ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ तैयार की गई थीं। नालन्दा के कई हस्तलिखित ग्रन्थ आज केम्ब्रिज और लन्दन के पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं।

महाविद्यालय के कुछ प्रसिद्ध विद्वान्

नालन्दा-महाविहार में विद्या के सभी साधन विद्यमान थे। इसीलिए यहाँ से एक-से-एक दिग्गज विद्वान् निकलते थे, जो केवल देश में ही नहीं सुदूर विदेशों में भी जाकर ज्ञान का प्रचार करते थे। हुएनत्संग ने कुछ उद्‌भट पंडितों का नामोल्लेख किया है। लिखा है कि प्रत्येक विद्वान् ने कोई दस-दस पुस्तकें और टीकाएँ बनाई थीं, जो चारों ओर देश में प्रचलित हुई और अब तक प्रसिद्ध हैं।

अपनी विद्वत्ता से ज्ञानहीन संसारी मनुष्यों को प्रबुद्ध करने वाले धर्मपाल और चन्द्रपाल अपने श्रेष्ठ उपदेश की धारा दूर तक प्रवाहित करने वाले गुणमति, और स्थिरमति, सुस्पष्ट युक्तियों वाले प्रभामित्र, विशुद्ध वाग्गी जिनमित्र, आदर्श चरित्रवान् और बुद्धिमान ज्ञानचन्द्र, शीघ्रबुद्ध तथा शीलभद्र महाविहार के शिक्षकों में मान्य प्रधान थे। इनमें जिनमित्र 'भूलसर्वास्तिवाद-निकाय' के प्रणेता थे। हुएनत्संग के समय में शीलभद्र ही विद्यालय के प्रधानाचार्य थे। वे बंगाल के राजकुमार थे, पर संसार से विरक्त हो, धर्म और विद्या की उपासना में लग गये थे। सभी सूत्रों और शास्त्रों पर उनका अखण्ड अधिकार था। हुएनत्संग उन्हीं का शिष्य रहा। इत्सिग ने उनके अतिरिक्त, नागार्जुन, देव, अश्वघोष, वसबन्धु, दिङनाग, कमलशील, रत्नसिंह, प्रभृति आदि कई विद्वानों का उल्लेख किया है।

नवीं ईस्वी सदी के प्रारम्भ में नालन्दा के विद्वान् 'शांतिरक्षित' भोट देश (तिब्बत) के राजा द्वारा निमन्त्रित होकर वहाँ गये थे। उन्हीं के द्वारा वहाँ के आधुनिक 'लामा' मत का बीज-वपन हुआ। उन्हें वहाँ 'आचार्यबोधिसत्व' की उपाधि मिली थी। उनके बाद नालन्दा से 'कमलशील' निमन्त्रित होकर वहाँ गये और अभिधर्म-शाखा के अध्यक्ष बनाये गये। हमें पालों के समय के कुछ ऐसे ही विद्वानों का भी पता लगता है। यथा—वीर देव, जिन्हें देवपाल ने नालन्दा का प्रधानाचार्य बनाया था। पूर्वोक्त हिलसा नामक स्थान में देवपाल का एक शिलालेख मिला है, जिसमें मंजुश्रीदेव नामक एक अन्य विद्वान् का भी उल्लेख है। नयपाल (1015 ई०) के समय में नालन्दा महाविहार के प्रधानाचार्य 'दीपंकर श्रीज्ञान' थे, जिन्हें भोट के राजा की प्रार्थना के अनुसार वहाँ जाना पड़ा था। नालन्दा के और भी कई पण्डितों ने बाहर जाकर ज्ञान का आलोक फैलाया था। इनका वर्णन करते हुए इत्सिंग ने लिखा है कि ये सभी समान रूप से प्रसिद्ध थे।

धार्मिक आदर्श और महाविहार के विशिष्ट मन्दिर, आवास-भवन आदि

नालन्दा महाविहार का धार्मिक आदर्श बौद्ध-धर्म का महायान सम्प्रदाय था। यहाँ सर्वास्तिवाद की प्रधानता थी। हुएनत्संग के समय में यह विद्यालय तांत्रिक मत का केंद्र हो रहा था। नालन्दा महाविहार की यह बहुत बड़ी खूबी है कि यद्यपि वह सर्वतोभावेन बौद्ध विद्यालय था, तथापि सांप्रदायिक असहिष्णुता वहाँ लेशमात्र न थी। वहाँ बौद्ध-मूर्तियों के साथ शिव-पार्वती आदि हिन्दू देव-देवियों का पाया जाना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। पाठकों को यह जानने की उत्सुकता होगी कि इतने अधिक पण्डितों और विद्यार्थियों के रहने का क्या प्रबन्ध था। अध्यापकों और छात्रों के रहने के लिए वहाँ एक-से-एक विस्तृत, विशाल और दर्शनीय भवन बने हुए थे।

ऊपर कहा जा चुका है कि नालन्दा में किस प्रकार एक के बाद दूसरे राजा संघारामों का निर्माण कराते रहते थे। हुएनत्संग ने यहाँ के संघारामों और कुछ विहारों का वर्णन किया है। यहाँ का एक विहार तो तीन सौ फीट ऊँचा था, यह बहुत विशाल था। हुएनत्संग लिखता है—"इसकी सुन्दरता, विस्तार और इसके भीतर बुद्धदेव की मूर्ति आदि सब बातें ठीक वैसी ही हैं, जैसे बोधिवृक्ष के नीचे वाले विहार में हैं।

बुद्धभद्र का निवास-स्थान, जिसमें हुएनत्संग ठहरा था, चार खण्ड का था। इन विशाल एवं मनोहर मन्दिरों की प्रशंसा में हुएनत्संग के जीवनी-लेखक हुई-ली ने लिखा है—"समलंकृत शिखर तथा सुषमापूर्ण अट्टालिकाएँ उत्तुंग गिर-शृंगों

की तरह परस्पर सम्मिलित हैं। बेधशालाएँ प्रातःकालीन वाष्प में लुप्त-सी जान पड़ती हैं और ऊपर के कमरे बादलों से भी ऊँचे जान पड़ते हैं। खिड़कियों से यह देखा जा सकता है कि हवा और मेघ किस प्रकार नये आकारों की सृष्टि करते हैं। गगनचुंबी वल्लभियों के ऊपर सूर्य-चन्द्र ग्रहण का स्पष्ट निरीक्षण किया जा सकता है। गहरे और निर्मल जलाशय लाल और नीले कमलों को बड़ी सुन्दरता से धारण किये हुए हैं। बीच-बीच में उन पर विस्तीर्ण अमराइयों की बड़ी सुन्दर छाया पड़ती है। बाहर के सभी चैत्य, जिनमें भिक्षुकों के आवास हैं, चार खण्ड के हैं। सीढ़ियों के सर्पाकार झुकाव, छतों के सुमज्जित छोर, खम्भों की नफीस नक्काशी, वेदिकाओं (Railings) की मनोहर पंक्तियाँ, खपरैल छतों के ऊपर हजारों रंगों में प्रतिबिम्बित प्रकाश—ये सब मिलकर एक दृश्य की श्रीवृद्धि करते हैं।

वास्तु तथा मूर्ति-कला

नालन्दा की वास्तु तथा मूर्ति-कला के सम्बन्ध में कुछ कहे बिना यह विवरण अधूरा रह जायेगा। यहाँ के भवनों की छेकन (Layout, plan) में इतना सौष्ठव है कि आज खोदकर निकाले गये भग्नावशेषों की दशा में भी उन्हें देखकर हृदय आनन्दित हो उठता है और उनकी वनी हुई दशा का चित्र आप-ही-आप आँखों के आगे खिच जाता है। एक के बाद एक भवन यहाँ के स्थापित इस खूबी से बनाये गये हैं, मानो सारे विद्यापीठ का नक्शा उन्होंने पहले ही से सोच रखा हो। कोई भी इमारत ऐसी नहीं है, जो बेजोड़, बेमेल व कुठार मालूम पड़ती हो। जिस भवन-मालिका के निर्माण में, एक सहस्र वर्ष का लम्बा समय लगा हो, वहाँ ऐसे सौष्ठव का निर्माण पहुँचे हुए शिल्पियों के ही मस्तिष्क का काम है। नालन्दा की खुदाई के पहले भारतीय स्थापत्य के इतिहास के विद्वानों का मत था कि इमारतों में कमानियों, डाटों (Arches) का प्रयोग भारत ने अरब से सीखा है, पहले से भारतीय वास्तु-शिल्पी कमानी के सिद्धांत से अनभिज्ञ थे। किन्तु नालन्दा के उद्घाटित होने पर यह अनुमान निर्मूल सिद्ध हुआ।

आज जो चार प्रकार की कमानियाँ— अर्थात् गोल, कुबड़ी, नोकदार और समतल—भवनों के निर्माण में व्यवहृत होती हैं, उन चारों ही के नमूने यहाँ की इमारतों में मिले हैं। यहाँ की इमारतों की पुष्ट और सुडौल ईंट ऐसी सुघड़ता से चिनी गई हैं कि कहीं-कहीं तो उनकी दरज तक नहीं मालूम होती। नालन्दा के छात्रावास और कमरे आदि देखने से सचमुच ही आजकल के प्रसिद्ध विद्यालय भी फीके से लगते हैं। कहीं मंचादि की भित्तियों पर ऐसी सुन्दर चित्र-मूर्तिकारी है कि देखते ही बनता है। कहीं बुद्ध के जातक के कथाओं की बातें अंकित हैं, कहीं शिव और पार्वती की प्रतिकृति, कहीं बाजा बजाती हुई किन्नरियाँ, कहीं गजलक्ष,

कहीं अग्नि, कहीं कुबेर, कहीं संकटाकृत आदि । एक वृहतस्तूप के भूमिस्पर्श मुद्रा में बुद्धदेव की एक भव्य विशाल मूर्ति है । वह आकार में शायद बौद्ध-गया की मूर्ति के लगभग होगी । यहाँ के लोग उसे आजकल बटुक भैरव की मूर्ति समझते हैं और उसकी पूजा करते हैं । यहाँ इमारतों पर जो कतिपय बुद्ध-मूर्तियाँ मसाले की बनी हैं, वे इतनी भावपूर्ण हैं कि उनका शब्द-चित्रण असम्भव-सा है । बुद्ध के प्रशान्त भव्य मुख-मण्डल पर दया, करुणा और दिव्य सौंदर्य की जो अभिव्यक्ति शिल्पी ने की है, उनके विमल और ध्यानस्थ नेत्रों से जो आभा, आर्द्रता, गम्भीरता, एकाग्रता एवं विश्व-वेदना उसने टपकाई है, उसके दर्शन करके किसका हृदय पवित्र एवं निष्पंक न हो जायेगा । यहाँ की प्रस्तर मूर्तियाँ भी ऐसी सुन्दर हैं, और छोटी-छोटी धातु-प्रतिमाओं में तो पावन लोकोत्तर भावों की व्यंजना में तो कलावन्तों ने कमाल कर दिया है । अंगप्रमाण (एनाटोमी) की जो पाश्चात्य परिभाषा है, उसका चाहे इन मूर्तियों में अभाव हो, किन्तु भाव और कल्पना के निदर्शन में तो ये अद्वितीय हैं, अर्थात् कला का वास्तविक उद्देश्य—"हृदय में लोकोत्तर आनन्द का उद्बोधन" इनके द्वारा पूर्णतः सिद्ध होता है ।

कूप और जलाशय

हुएनत्संग ने नालन्दा के एक विशाल कूप का वर्णन किया है । खुदाई में भी एक अठमहला सुन्दर कुआँ मिला है । इस कुएँ को देखकर हम इसका जल पीने का लोभ संवरण न कर सके । वास्तव में जल सुस्वादु और निर्मल है । कई प्राचीन जलाशय अब भी यहाँ की शोभा बढ़ा रहे हैं । एक तालाब तो ऐसा है, जिनमें स्नान करने से लोगों का ऐसा ही विश्वास है कि कुष्ठ-रोग दूर हो जाते हैं । कम-से कम एक ऐसे सज्जन को तो हम स्वयं जानते हैं, जिनका बढ़ा हुआ कुष्ठ-रोग केवल इस तालाब में नित्य स्नान करने से छूट गया । शरद्-ऋतु में ये जलाशय विकसित कमलों से विभूषित होकर अत्यन्त मनोहर देख पड़ते हैं ।

प्रहार और संहार

नालन्दा के संघारामों को देखने से जान पड़ता है कि उन पर हृदयहीन शत्रुओं के अनेक प्रहार हुए थे । कुछ मन्दिर और आवास प्राचीन भग्नावशेषों के ऊपर बने मालूम होते हैं । नालन्दा महाविहार पर प्रथम आघात संभवतः बालादित्य-(नरसिंह गुप्त) के शत्रु 'मिहिरकुल' का हुआ होगा । बालादित्य-राज ने इमारतों की फिर मरम्मत करा दी होगी । दूसरा प्रहार 'शशांक' का हुआ होगा । इस बार मरम्मत हर्षवर्धन ने कराई होगी ।

संघारामों के चारों ओर ऊँची चहारदीवारी बनाने का उद्देश्य सम्भवतः उन्हें बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित रखना ही होगा। जो हो, नालन्दा पर अन्तिम घोर प्रहार मुसलमानों का हुआ। प्रहार क्या संहार ही हुआ। मुसलमान इतिहासकार 'मिनाज' के अनुसार मगध पर मुसलमानों की चढ़ाई का समय 1303 ई० है। उसी समय इधर के तीनों विद्यालयों नालन्दा, विक्रमशिला और ओंदतपुर का विध्वंस हुआ। तारानाथ से मालूम होता है कि मगध की पहली चढ़ाई में मुसलमानों को निराश होकर भाग जाना पड़ा था, पर दूसरी चढ़ाई में मुहम्मद बख्तियार अचानक बड़ी चढ़ाई के साथ टूट पड़ा। उसके आक्रमण का पता किसी को न था। उस समय मगध के राजा गोविन्दपाल थे। वे बहुत वृढ़े हो गये थे। लड़ाई में वे वीरगति को प्राप्त हुए। फिर तो खूब लूट-पाट मची। उसी समय नालन्दा महाविहार का विनाश हुआ। बहुत-से भिक्षु मार डाले गये। कुछ विदेशों में भाग गये। अन्धतान्त्रिक मत के दुष्प्रभाव से, धर्म-भ्रांतियों से, व्यभिचार आदि से बौद्ध-धर्म उस समय भीतर-ही-भीतर जर्जर हो उठा था। उसकी वह पुरानी शक्ति जीर्ण-शीर्ण हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त देश भर में उस समय उत्पात और अनाचार व्याप्त था। अतएव देश की तत्कालींन स्थिति का अनुसरण करते हुए नालन्दा भी अधः-पतित हुआ। उसके बाद तिब्बती प्रमाण के अनुसार नालन्दा को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया गया। 'मुद्रितभद्र' नामक एक भिक्षुक ने वहाँ के चैत्यों और मन्दिरों की मरम्मत कराई होगी। किसी राजा के मन्त्री 'कुक्कट-सिद्धि' ने एक और मन्दिर का निर्माण किया। एक समय जब उसमें धर्मोपदेश हो रहा था, दो दरिद्र तीर्थंक वहाँ आ पहुँचे। कुछ दुष्ट चंचल भिक्षुकों ने उन पर अशुद्ध जल फेंककर उनका अपमान किया। इससे वे क्रुद्ध हो गये। तदुपरान्त बारह वर्ष तक सूर्य की उपासना करके उन्होंने एक यज्ञ का अनुष्ठान आरम्भ किया और महाविहार के मन्दिरों आदि पर यज्ञादि के धधकते हुए चैले और अंगारे फेंककर उन्हें भस्म कर डाला। खुदाई में जो मंदिर आदि निकल रहे हैं, उनमें जलाए जाने का स्पष्ट प्रमाण मिल रहा है। बालादित्य के शिलालेख से भी इस बात की सत्यता सिद्ध होती है। उस शिलालेख में अग्निदाह के बाद एक मन्दिर के मरम्मत किये जाने का उल्लेख है। नालन्दा में प्राप्त जले हुए चावल के कण भी इस बात की स्पष्ट सूचना देते हैं। सम्भव है कि चावल के इन कणों में हुएनत्संग द्वारा प्रशंसित उस 'महाशील' चावल के कण भी हों, जो उसे अन्यान्य वस्तुओं के साथ प्रति दिन मिलता था। उस चावल के कण भी पुष्ट होते थे।

भात तो बहुत ही सुगन्धितऔर चमकीला होता था। वह चावल केवल मगध में ही होता था और राजा-महाराजाओं तथा धार्मिक महातमाओं को ही मिलता था। इसीलिए उसका नाम "महाशील" पड़ा था।

उपसंहार

नालन्दा-महाविहार के उदय और अस्त की कहानी संक्षेप में हम सुना चुके। यह एक आदर्श विद्यालय था। भारतीय शिक्षा के सभी उच्च आदर्श उसमें वर्तमान थे। कोलाहलपूर्ण संसार से दूर निर्मल जलाशयों और सुविस्तृत आम्रकाननों से सुशोभित शांत एव सात्विक तपोवन में, इसकी स्थापना हुई थी। तपोवन और तपोमय जीवन, यही इसकी महत्ता का रहस्य था। इसके भव्य भवनों, मनोहर मन्दिरों और सुचारु चैत्यादिकों के देखने और इसके विश्वव्यापी पवित्र प्रभाव का चिन्तन करने से हृदय में अनेक कोमल और किशोर भावनाएँ जाग उठती हैं। कई सौ वर्षों का इतिहास आँखों के सामने नाच उठता है।

आगरे के प्रसिद्ध 'ताजमहल' पर अनेक कवियों ने अनूठी उक्तियाँ कही हैं। पर नालन्दा के भग्न, किन्तु दिव्य विहारों और संघारामों पर उनका हृदय नहीं पसीजा। नालन्दा अनेक तपस्वी महात्माओं के यश-सौरभ से सुरभित है। इसमें हृत्तंत्री झंकृत करने की पर्याप्त सामग्री है। इस तीर्थ-भूमि का प्रत्येक रेणु-कण भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का दर्पण है। इसके दर्शन से ऐसा भासित होता है, मानो प्राचीन भग्न-मन्दिरों से बौद्ध-भिक्षुकों की पवित्र आत्माएँ संसार के कल्याण के निमित्त दिव्य ज्ञान का आलोक लिये हुए निकल रही हैं। यहाँ का सारा वायु मंडल इस पवित्र मंत्र से गूँजता हुआ-सा प्रतीत होता है—

"धर्मं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि"।

16

बौद्ध-धर्म का अस्त

बौद्ध-धर्म के लोप की कथा एक बहुत ही आश्चर्यजनक है। यह बात समझ में नहीं आती कि जो बौद्ध-धर्म 400 वर्षों के अन्दर लगभग सारे एशिया के अंदर फैल गया, वह एकाएक कैसे लोप हो गया। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो हमें मालूम होगा कि बौद्ध-धर्म का लोप नहीं हुआ, बल्कि उसका रूप बदल गया। यह तो हमको मानना ही पड़ेगा कि जिस समय बौद्ध-धर्म लगभग समस्त एशिया में फैल गया था, उस समय भी हिन्दू-धर्म नष्ट नहीं हुआ था। जहाँ-जहाँ बौद्धों के मठ-मूर्ति आदि थे, वहाँ हिन्दुओं के भी देवी-देवताओं की पूजा और मन्दिर निर्माण हो रहे थे। पुष्पमित्र का अश्वमेध यज्ञ, वैशेषिकों के यज्ञ और उस समय के बने हुए मन्दिर-स्तूप आदि इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

बुद्ध ने जिस समय अहिंसा धर्म चलाया, उस समय हिन्दुओं का धर्म बहुत पतित हो गया था। यज्ञ का बड़ा भारी जोर था। यज्ञ को ही वह सर्वोत्कृष्ट धर्म मानते थे। वास्तविक धर्म से वह विमुख थे। सर्वसाधारण ब्राह्मण और क्षत्रियों के अत्याचारों से लोग पीड़ित थे। छोटी जातियाँ बिल्कुल कुचली हुई थीं। उनके साथ बड़ा बुरा व्यवहार किया जाता था।

ऐसी अवस्था में बुद्ध ने जो एकाएक अहिंसा की आवाज उठाई तो एकदम सब के मन मोहित कर लिये। जब उसने छोटी-से-छोटी जाति के लोगों को अपने धर्म में बड़े-से-बड़े पद दिए तो लाखों उसके अनुयायी हो गये। दूसरे बुद्ध ने भारतीयों तक ही अपने धर्म को सीमित नहीं रक्खा।

बुद्ध ने उपदेश दिया कि यज्ञ करना, अग्नि में घी होमना और पशुओं को जलाना, यह कोई अच्छा धर्म नहीं है। इसकी अपेक्षा तो यह अच्छा है कि अपनी बुरी भावनाओं को दमन करो; क्रोध, मान, माया, लोभ, द्वेष आदि को त्यागो और ज्ञान रूपी अग्नि में अपने कर्मों को जलाओ। बुद्ध का यह सरल धर्म लोगों को भा गया और ढेर-के-ढेर नर-नारी भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ होकर बौद्ध-मत का जो निर्वाण का मार्ग था, उसका अनुसरण करने लगे। परन्तु सब लोग संन्यासी

नहीं बन सकते थे, इसलिए बुद्ध ने गृहस्थों के लिए भी एक ऐसा मार्ग बताया जो बिल्कुल सरल था। बुद्ध का व्यक्तित्व बहुत बढ़ा-चढ़ा था।

जब महायान-सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई तो बुद्ध और बुद्धत्व दोनों का समान मान होने लगा। महायान-सम्प्रदाय के सिद्धांतानुसार गृहस्थावस्था में रहकर भी ष्यमनु निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

बुद्ध ने अपना उपदेश साधारण भाषा में ही दिया था और उनके उपदेशों के ग्रंथ भी जन साधारण भाषा में बनाये गये थे। महायान-सम्प्रदाय के ग्रन्थ संस्कृत भाषा में थे, अतः वह ब्राह्मण विद्वानों के हाथ में चला गया और धीरे-धीरे पौराणिक धर्म में मिल गया। गुप्तवंश के राजाओं के राज्य-काल में बौद्ध-धर्म हिन्दू-धर्म में बहुत कुछ मिल गया। ये राजा हिन्दू धर्म के अनुयायी थे और ब्राह्मणों की राय से सब काम करते थे। इन्होंने दो बड़े भारी यज्ञ भी किये, इससे बौद्धों को बड़ा नुकसान पहुंचा, परन्तु इन राजाओं का बौद्ध-धर्म के प्रति ऐसा कठिन व्यवहार नहीं था। जब फाहियान यहाँ आया तो यहाँ सैकड़ों संघाराम और स्तूप थे, जहाँ हजारों बौद्ध-भिक्षुक रहते थे। फाहियान के समय गांधार देश में जो हीनयान-सम्प्रदाय था, बड़ी गिरी अवस्था में था। इसके बाद 7वीं शताब्दी के मुसलमानी आक्रमण ने भी बौद्ध-धर्म को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

अब इस बात पर प्रकाश डालना है कि बौद्ध-धर्म का सर्वनाश कैसे हुआ ? बुद्ध ने अपने उपदेश सर्वसाधारण की भाषा में बनाये थे। अशोक ने भी अपने शिलालेख सर्वसाधारण भाषा में लिखाये थे। लेकिन महायान-सम्प्रदाय के सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषा में ही लिखे गये थे और अपने शिलालेख भी संस्कृत भाषा में ही लिखाये। गुप्त वंश के राजाओं के भी शिलालेख संस्कृत भाषा में ही मिलते हैं। इस संस्कृत भाषा ने ही बौद्ध-धर्म का नाश किया है।

आज जितने भी शिलालेख बुद्ध के समय से लेकर कनिष्क के समय तक के मिलते हैं, उनमें ब्राह्मणों के यज्ञ और देवी-देवताओं का उल्लेख मिलता है। लेकिन पाँचवीं शताब्दी के जो शिलालेख मिलते हैं, उनमें इनका कोई वर्णन नहीं है।

बौद्ध-धर्म हिन्दू धर्म में मिल गया। वर्तमान पौराणिक धर्म ही बौद्ध-धर्म का बिगड़ा हुआ स्वरूप है, जिसे वैष्णव धर्म कहते हैं। □□